महात्मा गांधी

शंकर दयाल सिंह

महात्मा गांधी :
सत्य से सत्याग्रह तक

अभिरुचि प्रकाशन, दिल्ली-32

महात्मा गांधी :
सत्य से सत्याग्रह तक

शंकरदयाल सिंह

गांधी जी के सपनों को
साकार करने की दिशा में
व्यावहारिक कदम उठाने वाले
सजग व्यक्तित्व और सुहृद मित्र
डॉ. बिन्देश्वर पाठक
को
श्रद्धा तथा प्रेम सहित

निश्चय ही अनेक लेखों में एक ही भाव, संदर्भ तथा उद्धरण पुनरुक्ति-दोष कहे जा सकते हैं। इसका मुख्य कारण पंद्रह-सोलह वर्षों की वह कालावधि है, जिसमें ये लेख विभिन्न अवसरों पर लिखे गए तथा अनेक विभिन्न पत्रों में प्रकाशित भी हुए।

पाठकों से इन पुनरुक्तियों के लिए क्षमाप्रार्थी हूं।

भूमिका

मेरे लिए यह खुशी की बात है कि शंकरदयाल सिंह की पुस्तक की भूमिका के बहाने दक्षिण अफ्रिका की अभी हाल में की गई यात्रा को याद कर रहा हूं, जिसमें मैंने गांधी जी के सत्य के प्रति आग्रह और संकल्प तथा निष्ठा को करीब से देखा। गांधी जी 1893 में पहली बार दक्षिण अफ्रिका गए थे। अतः 1993 में सौ साल पूरे होने पर उनकी याद में देश-विदेश में कई तरह के समारोह हुए। भारत से गए प्रतिनिधि मंडल के नेता की हैसियत से दक्षिण अफ्रिका में संपन्न समारोहों में मैंने भाग लिया। इस अवसर पर अपने भाषण में मैंने गांधी जी के लम्बे दक्षिण अफ्रिकी प्रवास का स्मरण करते हुए बताया कि इस प्रवास ने उनके व्यक्तित्व तथा विचारों को प्रभावित किया। इस अवधि में उन्होंने बेजोड़ सिद्धांत तथा सत्याग्रह और अहिंसा की प्रक्रिया का विकास किया। शारीरिक जोखिम उठाकर उन्होंने दमन का विरोध किया और कई मौकों पर शारीरिक दंड भी भोगा। दक्षिण अफ्रिका की विभिन्न जेलों में वे दस बार कैदी के रूप में रहे और इनमें से चार बार उन्हें कैदी जीवन में कठोर परिश्रम करना पड़ा। दक्षिण अफ्रिका में श्वेत सरकार के पक्षपातपूर्ण रवैये का सामना करके उन्होंने जीवन भर जाति पर आधारित पक्षपात के विरुद्ध संघर्ष करते रहने का संबल प्राप्त किया और वहां हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए जो संघर्ष किया वह उनके भावी आंदोलन में एक प्रमुख मुद्दा बना।

मैंने दक्षिण अफ्रिका में गांधी के राजनैतिक योगदान की भी चर्चा की। उन्होंने 1904 में नेशनल इंडियन कांग्रेस पत्रिका 'इंडियन ओपीनियन' और फोनिक्स बस्ती तथा 1910 में टॉलस्टाय फार्म की स्थापना की थी। उन्होंने अन्याय और रंगभेद पर आधारित जातीय कानूनों के विरुद्ध शांतिपूर्ण संघर्ष किया, जिसकी परिणति जनरल स्मट्स के साथ टकराव

में हुई और जिसके कारण 1914 में भारतीय जांच कमीशन बनाया गया। गांधी जी का आंदोलन चार दशाब्दियों बाद अफ्रिकन नेशनल कांग्रेस द्वारा चलाए गए आंदोलन का प्रेरणास्त्रोत कहा जा सकता है। मैंने यह भी कहा कि अफ्रिका के लिए गांधी जी का बहुत बड़ा योगदान था, परन्तु भारत के लिए दक्षिण अफ्रिका के योगदान के मुकाबले यह नगण्य है क्योंकि इसने 'बैरिस्टर गांधी' को 'महात्मा गांधी' में बदल दिया।

उस अवसर पर श्री नेल्सन मंडेला जो स्वतंत्र दक्षिण अफ्रिका के प्रथम राष्ट्रपति चुने गए हैं, ने महत्त्वपूर्ण भाषण दिया। 75 वर्षों की आयु में भी उनके व्यक्तित्व में गरिमा और संतुलन का भाव अभिव्यक्त होता है जिसकी हर व्यक्ति पर अमिट छाप पड़ती है। यह सोचकर और भी हैरानी होती है कि इन्होंने लगातार सत्ताईस वर्ष अफ्रिका की अनेक जेलों में काटे हैं और ग्यारह वर्ष तक कुख्यात रोमन द्वीप की जेल में रहे हैं जहां इन्हें नित्य पत्थर तोड़ने जैसे कठिन काम करने पड़ते थे। आत्म-साक्षात्कार के अनुभव द्वारा अर्जित स्वाभिमान-रक्षा तथा कटुता का नितांत अभाव इनके असाधारण गुणों के परिचायक हैं। दक्षिण अफ्रिका भाग्यशाली है कि उसे देश के लम्बे तथा उतार-चढ़ाव वाले इतिहास की संकटकालीन परिस्थिति में इन जैसा नेता मिला।

दक्षिण अफ्रिका से लौटने के बाद स्वतंत्रता और मुक्ति के इतिहास में देश ने जो कदम रखा उसकी शुरुआत गांधी जी ने ही की थी। वे दक्षिण अफ्रिका से 1915 में भारत लौटे। उन्होंने भारत में जो कुछ भी किया, चाहे वह सत्याग्रह हो या रचनात्मक कार्यक्रम, उन सबका प्रयोग उन्होंने दक्षिण अफ्रिका में किया था।

यह वर्ष विशेष महत्त्व का है, क्योंकि इस साल महात्मा गांधी की 125 वीं और विनोबा की 100वीं जयंती मनायी जा रही है। देश इस समय एक विचित्र चौराहे पर खड़ा है। राजनीति से लोगों का मन ऊब-सा गया है। धार्मिक उन्माद और जातीय संघर्ष इस देश को कहां ले जायेगा, यह कोई नहीं जानता। अतः आज की परिस्थिति में इस बात की आवश्यकता है कि हम स्वामी विवेकानंद, महर्षि अरविन्द तथ महात्मा गांधी के बताए रास्ते का अनुसरण करें तभी भारत की गरिमा बच सकती है।

यों तो मैंने श्री शंकरदयाल सिंह की कई पुस्तकों का विमोचन पूर्व में भी किया है, लेकिन 'सत्य से सत्याग्रह तक' की भूमिका लिखते हुए मुझे इस बात की अनुभूति हो रही है कि आज जहां हर ओर मूल्यों का ह्रास हो रहा है, भाई शंकर उन्हें स्थापित करने की दिशा में अपनी जागरूक लेखनी द्वारा प्रयत्नशील हैं ।

मैं उन्हें साधुवाद और बधाई देता हूं ।

10 सितम्बर, 1994

डॉ. कर्ण सिंह

न्याय मार्ग
चाणक्यपुरी, नई दिल्ली

समय, संदर्भ और गांधी

पिछले बीस वर्षों से किसी न किसी रूप में मैं गांधी जी के साथ चल रहा हूं या कहूं तो जी रहा हूं। न गांधी मुझे छोड़ रहे हैं और न मैं उनका पीछा छोड़ रहा हूं। लगता है जैसे मिट्टी की सोंधी गंध में, हवा के झोंके में, समय के परिवेश में, संदर्भ और व्याख्या में, सोच और चिंतन में—हर जगह गांधी मौजूद हैं।

मेरा मानना है कि भारत की बीमारी का इलाज गांधी के सिवा और कुछ नहीं है। उनके आग्रहों में सबसे पहला आग्रह सत्य का था, उसके बाद अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय (चोरी न करना), अपरिग्रह (जमा न रखना), अभय, अस्पृश्यता-निवारण, शारीरिक श्रम, सर्वधर्म समभाव, नम्रता, स्वदेशी, खादी, प्राकृतिक चिकित्सा, महिला-शिक्षा आदि विभिन्न क्षेत्र थे, जिनमें गांधी जी की रुचि और गहरी पैठ थी। दुनिया के वर्तमान इतिहास में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति पैदा हुआ होगा, जिसने सक्रिय राजनीति में रहते हुए और देश की आजादी के लिए संघर्ष का नेतृत्व करते हुए इतने आयामों पर काम किया हो।

इसलिए जरूरी है कि हम गांधी को पढ़ने के पहले समझें और समझने के पहले पढ़ें।

राष्ट्रीय आंदोलन के एक सशक्त प्रहरी तथा गांधीवादी युग के एक चर्चित व्यक्तित्व श्री श्रीप्रकाश ने महात्मा गांधी का आकलन करते हुए एक जगह लिखा है—'महात्मा गांधी जी में मैंने तीन गुण देखे, जो हममें प्रायः नहीं रहते, और यदि उनकी लम्बे-लम्बे शब्दों में केवल प्रशंसा न कर, हम उनके अनुकूल स्वयं व्यवहार करें जैसा कि यदि चाहें तो सरलता से कर सकते हैं, तो न हमारा जीवन निरर्थक हो, न हमारे लिए वे ही निरर्थक हों।

पहला गुण तो महात्मा गांधी जी में यह था कि वे बड़े ही साहसी थे। उनको किसी का भय नहीं था। जो ठीक समझते थे, कहते थे। जो कहते थे, वह करते थे। दूसरों से करने के लिए जो वह कहते थे, उसे पहले स्वयं करते थे। यह गुण हम सब लोगों के लिए व्यवहार्य है, और उसे हमें अपने लिए स्वीकार करना चाहिए। इसकी हमारे में बड़ी कमी है, इसी कारण हम किसी प्रकार की न व्यक्तिगत, न सामुदायिक उन्नति कर पाते हैं।

महात्मा गांधी का दूसरा बड़ा उपयोगी और नितान्त व्यावहारिक गुण यह था कि वे बड़े जिम्मेदार पुरुष थे। उनसे किसी को धोखा नहीं हो सकता था। जो कुछ किसी के लिए करने को कहते थे, उसे पूरा करते थे। चाहे किसी बालक-बालिका को अपना हस्ताक्षर भेजने के लिए कहते थे, चाहे किसी बड़े देशव्यापी आंदोलन का सूत्रपात करने का आह्वान करते थे, वह अपनी सब बातें पूरी करते थे। हम सबकी आदत होती है कि झट कुछ करने के लिए कह देते हैं, और उसी क्षण भूल जाते हैं। हमसे दूसरों को बराबर धोखा होता है। इस दुर्गुण से हमें बचना होगा। महात्मा जी की यह दूसरी शिक्षा है।

महात्मा जी अथक परिश्रम करते थे। चौबीस घंटों में बहत्तर घंटों का काम कर डालते थे। हम सब बड़े आलसी होते हैं। हम कुछ करना ही नहीं चाहते। समय का लगातार अपव्यय करते रहते हैं। इस कारण हम कुछ कर नहीं पाते। सभी कामों में विफल होते रहते हैं। अपनी त्रुटियों के लिए दूसरों को दोष देते हैं। महात्मा जी दूसरों की त्रुटियों के लिए अपने को दोष देते थे। यह उनकी तीसरी शिक्षा है जो हम सब ग्रहण कर सकते हैं और हमें ग्रहण करना चाहिए।''

कुछ दिनों पहले ऐसा लगने लगा था मानो गांधी दूर होते जा रहे हैं, लेकिन आज ऐसा पुनः लगने लगा है मानो हर सांस और हर क्षण भारतीय जन-मानस गांधी को याद कर रहा है। पीड़ा हो, निराशा हो, असमानता हो, भ्रष्टाचार हो, अन्याय हो तो जनता गांधी को फौरन याद करती है– ''काश, आज बापू होते!'' ''काश, गांधी जी के बताए रास्ते पर हम चलते!'' ''काश, यह देश गांधी को भूलने की चेष्टा न करता!'' ये वाक्य बरबस मुंह से निकल जाते हैं।

भले सही कोई राजनेता हो या समाज-सुधारक या दार्शनिक या शिक्षा-शास्त्री या क्रांतिदर्शी या चिंतक – किसी न किसी रूप में गांधी उसकी झोली में जरूर रहते हैं। अपनी साक्षियों में पहले हम भगवान की कसम खाते थे, अब गांधी की लेते हैं। इसलिए कि भारतीय जनमानस पर सत्य, निष्ठा, चरित्र और संकल्पों की एक ऐतिहासिक रेख महात्मा गांधी की देन है और गांधी व्यक्ति मात्र न रहकर भाव हो गए हैं। संज्ञा की परिधि छोड़कर सर्वनाम में व्याप्त हैं।

इसका कारण क्या है ? मेरी समझ में सत्ता की चकाचौंध से दूर गांधी जी ने व्यवस्था को अहमियत दी थी और दुनिया के अन्य राजनीतिज्ञों से गांधी सर्वथा अलग हैं। इस कथ्य को हम इस रूप में देखें– गांधी ज़ी के समकालीन अथवा उनसे कुछ आगे या पीछे दुनिया के जिस किसी देश में क्रांति की बीन बजी और जिस किसी ने उसका नेतृत्व किया, आज़ादी के बाद वही वहां के सत्ता का नियंता अथवा सर्वाधिकारी बना। रूस में लेनिन ने क्रांति की अगवानी की और जारशाही की समाप्ति के बाद सत्ता के प्रमुख बने। इसी प्रकार टर्की में मुस्तफा कमाल पाशा, चीन में माओत्से-तुंग और चाऊ एन लाई, इंडोनेशिया में सुकर्ण, बर्मा में यू नू, पाकिस्तान में मुहम्मद अली जिन्ना, बांग्ला देश के निर्माता बंगबधु शेख मुजीबुर्रहमान तथा इसी प्रकार अन्य देशों में दूसरे लोग। शायद महात्मा गांधी ही एक ऐसे अपवाद मिलेंगे, जो आज़ादी की लड़ाई के अगुआ होकर भी सत्ता से दूर रहे। बहुत दिनों बाद जयप्रकाश जी को भी इसी रूप में याद किया गया।

यह साबित करता है कि गांधी सत्ता से अलग व्यवस्था के पक्षधर थे और राजनीतिक ऊहापोहों के बीच भी उनका जीवन आश्रम, हरिजनोद्धार, कुष्ठ रोगियों की सेवा, हिन्दी-प्रचार, गो-सेवा, विद्यापीठ आदि में लगा रहता था। अपने रचनात्मक कार्यों द्वारा जहां गांधी जी एक ओर मर्यादा और निष्ठा को प्रमुखता दे रहे थे, वहीं भारतीय जनमानस पर अमिट छाप छोड़ रहे थे।

भारत की करोड़ों जनता गांधी जी के स्वर में अपनी वाणी का श्रवण करती थी और उनके अर्धनग्न शरीर में उसे अपनी स्थितियों का परिचय प्राप्त होता था। जनता को सहज ही यह विश्वास होता था कि गांधी

महात्मा हों, युगपुरुष हों, लेकिन सबके बावजूद पारिवारिक परम्परा के साथ जनता के हैं और महात्मा गांधी तथा भारतीय जनता का यह साधारणीकरण एक-दूसरे के लिए असाधारण समन्वय था। 'गांधी मेरे हैं,' 'गांधी हमारे हैं' का भाव ही गांधीवाद की सरल अभिव्यक्ति थी।

और स्वयं गांधी जी ने जनमानस को इसी रूप में देखा था। उनका कहना था– "सत्ता में जब तक लोगों का हिस्सा नहीं होता तब तक लोकतंत्र की स्थापना एक असंभव बात है– एक अत्यंज और एक श्रमिक का भी, जो आपको अपनी रोजी कमाने में मदद देता है, स्वराज्य में हिस्सा होगा। उनके झोंपड़ों में देखना होगा, जिनमें वे जानवरों की तरह रहते हैं। उनके जीवन को बनाना या बिगाड़ना आपके हाथ में है।"

इसीलिए गांधीजी का स्वराज्य रामराज्य था।

आज ज्यों-ज्यों हम समस्याओं में, गृह-कलहों में, विविधताओं में फंसते जा रहे हैं, हमें बार-बार गांधी की याद आती है। लगता है जैसे इस देश के मर्ज की दवा सिवा गांधीवाद के और कुछ नहीं है। गांधी, जो हरिजन बस्तियों में रहते थे; गांधी, जिनका जीवन एक खुली किताब था; गांधी, जिनका सरलता में अदम्य विश्वास था; गांधी, जिनके लिए हर कोई अपना था और जो हर किसी के लिए अपने थे; गांधी, जिन्होंने गरीबी अपनाकर गरीबों को अपना बना लिया था– न केवल कल के थे, वरन् आज के हैं तथा आनेवाला कल भी उनका ही होगा।

लोगों ने बहुत कुछ कहा है गांधी जी के संबंध में– यह कि आने वाली पीढ़ी मुश्किल से यह विश्वास कर सकेगी कि गांधी नाम का आदमी कोई हाड़-मांस का पुतला था; यह कि सरल होना कितना खतरनाक है और यह कि रोशनी चली गयी, लेकिन रोशनी जा ही नहीं सकती।

परन्तु गांधी जी का व्यक्तित्व कुछ ऐसा था, जो न तो शब्दों में बांधा जा सकता है और न रेखाओं में कैद किया जा सकता है। कोई रवि बाबू के समान चितेरा 'महात्मा' कहकर अभिव्यक्ति दे सकता है और नन्दलाल बसु के समान 'दांडी-यात्री' के वेश को साकार चेतना प्रदान कर सकता है– परन्तु इस दुनिया में कितने रवि हैं और कितने नन्दलाल बोस।

यों तो स्वयं भी गांधी जी ने अपने बारे में बहुत कुछ लिखा और

बहुत कुछ कहा है, परन्तु मेरी आंखें रह-रहकर गांधी जी के उस वाक्य पर जाकर पथरा जाती हैं, जो उन्होंने 1942 में 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो' पारित हो जाने पर 'करेंगे या मरेंगे' के आह्वान के रूप में कहा था– "गांधी ने कभी धोखा नहीं दिया, झूठी बात नहीं की।"

काश, हम गांधी के इस एक वाक्य को पकड़ पाते तो देश का नक्शा ही कुछ और होता।

"अंग्रेजों के चरण यहां पड़ने के पहले भारत अपने लाखों झोंपड़ों में कातता, बुनता और खेतों से होने वाली अपनी मामूली–सी आमदनी में ही सारी कमी को पूरा कर लेता था। जीवन की डोर सरीखा हिन्दुस्तान का यह घरेलू धंधा ऐसे निठुर और अमानुषी उपायों से नष्ट किया गया कि जिन पर यकीन करना मुश्किल है। इस पर अंग्रेजों की गवाहियां मौजूद हैं। भारत की आधे पेट रहने वाली आम जनता किस तरह धीरे-धीरे मौत के नजदीक पहुंच रही है, इसे शहरी शायद ही महसूस करते हों। उन्हें क्या पता कि वे जो यह तुच्छ ऐश-आराम भोग रहे हैं, यह भारत को चूसने वाली परदेशी पूंजीपतियों के घर भरने में की हुई मेहनत की दलाली के सिवा और कुछ नहीं है। और उन परदेशियों का सारा नफा और साथ ही इनकी दलाली, दोनों भारत की दीन जनता को निचोड़कर निकलते हैं। उन्हें पता नहीं है कि ब्रिटिश भारत में बाकायदा स्थापित सरकार इस गरीब साधारण प्रजा को इस प्रकार चूसने के लिए ही जारी रखी जा रही है।

"आज भारत के गांव अपने हिलते-डुलते हड्डी के ढांचों से, बिना चश्मे की आंखों के भी सबूत दे रहे हैं, इसे इधर-उधर के वितंडावाद, वाग्जाल या आकजाल के मनमाने मायावी कोष्टकोषों से छिपाया नहीं जा सकता। मुझे तो इसमें रत्ती भर भी शक नहीं है कि ईश्वर जैसा कोई मालिक इस संसार के सिर पर हो, तो उसके दरबार में इंग्लैंड को और साथ ही भारत के इन सब शहरों में बसने वालों–दोनों को इस गुनाह के लिए, इतिहास में इस बेमिसाल मनुष्य-जाति के प्रति गुनाह के लिए जवाब देना पड़ेगा।"

गांधी जी के उपरोक्त वाक्यों को हम आज के सन्दर्भ में पहले समझ लें, तब इस किताब के पन्नों को पलटें।

शंकरदयाल सिंह

अनुक्रम

महात्मा गांधी :
सत्य से सत्याग्रह तक

गांधी : सत्य से सत्याग्रह तक

गांधी जी का समग्र जीवन सत्य से सत्याग्रह तक की महागाथा है। अपने जीवन में उन्होंने सत्य के प्रयोग किये, दक्षिण अफ्रिका में उसे सत्याग्रह का रूप दिया और चम्पारण पहुंचकर उसकी परिणति हुई।

9 जनवरी, 1915 को गांधी जी दक्षिण अफ्रिका से भारत लौटे। अमूमन विदेशों से स्वदेश लौटने वाले किसी भी व्यक्ति के पास घरेलू और व्यक्तिगत सामानों की एक लम्बी फेहरिस्त होती है, लेकिन गांधी जी के पास ऐसी कोई वस्तु नहीं थी। यदि साथ कुछ था तो वह विशाल अनुभव-कोश तथा संघर्ष और त्याग का वह मनोभाव जो उन्होंने दक्षिण अफ्रिका के अपने 22 वर्षों के प्रवास में जमा किया था। 1893 में पहली बार एक बैरिस्टर के रूप में वे दक्षिण अफ्रिका पहुंचे थे। एक सामान्य वकील जिसे पोरबन्दर की दादा अब्दुल्लाह हक कं० ने अपने मुकदमों के सिलसिले में 105 पाउण्ड वार्षिक मेहनताना के करार पर अहमदाबाद से डरबन ले जाकर खड़ा किया था। 1893 में भारत से चलकर दक्षिण अफ्रिका पहुंचे गांधी और 1915 में दक्षिण अफ्रिका से चलकर भारत आए गांधी में जमीन-आसमान का फर्क था।

गांधी जी के दक्षिण अफ्रिका के संघर्ष के संबंध में श्री वेद मेहता ने लिखा—"ज्यों-ज्यों 'काले कानून' का संघर्ष बढ़ता गया, गांधी ने ट्रांसवाल के बड़े भारतीय समुदाय के लिए फोनिक्स फार्म जैसे स्थान की जरूरत महसूस की जहां काले कानून का विरोध करने वाले उनके परिवार के लोग रह सकें, भरण-पोषण के लिए काम कर सकें और इस तरह सरल स्वर्णिम जीवन की फिर खोज कर सकें। अधिकांश विरोधी या सत्याग्रही के नाम से मशहूर लोग बहुत गरीब थे और जेल चले जाने पर उनके परिवार निराश्रित रह जाते थे। 'रोज का भोजन न मिलने पर

दुःखी होने वाले सत्याग्रही को भी फांसी दी जा सकती थी।' गांधी ने लिखा है, 'संसार में ऐसे अधिक लोग नहीं हो सकते जो अपनी ही तरह अपने निकट तथा प्रिय लोगों को भूखों मरते देख उनकी निन्दा करने को मजबूर किये जाने पर डटकर विरोध कर सकें।' जर्मन यहूदी वास्तुकार इर्मन फ्लेनविच का अपना परिवार न था और वह गांधी का प्रबल अनुयायी था। उसने 1890 में जोहन्सबर्ग से 21 मील दूर 1100 एकड़ जमीन खरीदी और गांधी को बिना लगान दूसरे सामुदायिक केन्द्र के लिए दे दी। गांधी इसे 'टाल्सटाय फार्म' कहते थे जो युद्ध तथा शांति के रचयिता टाल्सटाय के नाम पर नहीं वरन् बाद में जन्मे सनकी और धर्मान्ध टाल्सटाय जिसकी मान्यता थी, 'हमारा हृदय ही परमात्मा का राज्य है'। टाल्सटाय ने अपनी कलात्मक उपलब्धियों से मुख मोड़ लिया था, अपना परिवार छोड़ दिया था, जायदाद का मालिक बनने में उसका विश्वास न था, वह धूम्रपान और मद्यपान छोड़ चुका था, जीवित प्राणियों का शिकार करना अथवा उनका मांस खाना उसे प्रिय न था, वह शारीरिक श्रम का समर्थक था, किसानों की पोशाक कुर्ता-पाजामा पहने वह रूस के देहाती क्षेत्रों में घूमा था और उसने रूढ़िवादी रूसी चर्च की निन्दा की थी, जो ऐसी भौतिक शक्ति था जिसका लक्ष्य ईसा को कुचलना और सभ्यता का विरोध था। यह हिंसा पर आधारित था क्योंकि रूसी सरकार भारी सेना के बल पर शासन करती थी। इस टाल्सटाय का उपदेश था कि मानव का उच्चतम आदर्श अन्य मानव बन्धुओं से प्रेम करना और ईसामसीह की तरह बुराई और हिंसा का विरोध करना है।

पुरुष, स्त्रियां और बच्चे टाल्सटाय फार्म में संयुक्त परिवार के रूप में रहते थे और यहां निर्भयता, आत्मनिर्भरता, स्वार्थत्याग, आत्म-बलिदान तथा दुखभाग के सहारे जी रहे थे। उन्होंने गरीबी को गले लगाया था और अन्य लोगों तथा प्रकृति के साथ सामंजस्य रखते थे ताकि वे ब्रह्मचर्य, सत्याग्रह तथा अहिंसा का अभ्यास कर सकें एवं भ्रष्ट समाज तथा सरकार के खिलाफ अनिश्चित काल तक लड़ सकें। वे तड़के उठ जाते। वे हर जगह पहुंच जाते चाहे वह कितनी ही दूर क्यों न हो। गांधी अकसर सवेरे दो बजे उठ जाते, जोहन्सबर्ग तक 21 मील पैदल जाते, वकालत का काम करते और अपराह्न समय में आ जाते। वे हिंसा न करते, यहां

तक कि सांप को भी न मारते । वे अनाज उपजाते, गेहूं पीसते, रोटी पकाते, कैफीन रहित दग्धशर्करा कॉफी गांधी के बताए नुस्खे के अनुसार बनाते थे । वे अपने लिए मेज-कुर्सी, कपड़े और चप्पल बनाते । वे रोज भगवद्गीता पढ़ने, प्रार्थना करने और उनके धर्मों के भजन गाने के लिए गांधी के पास आते । गांधी ने फोनिक्स फार्म में इस प्रकार के कई अभ्यास आरंभ कर दिये थे और अब टाल्सटाय फार्म में उन्होंने उन्हें जीवन पद्धति बना दिया था ।

1915 में जब गांधी जी दक्षिण अफ्रिका से भारत आए तो वह काल भारत के राजनीतिक धरातल पर समतोष्ण काल था—न बड़ी उद्विग्नता और न ही गमगीनी, बल्कि ऐसा मानना चहिए कि राजनीतिक क्षितिज पर एक सुगबुगाहट अवश्य प्रारंभ हो गयी थी, लेकिन वह आक्रामक से अधिक रस्म-अदायगी थी । देश में सबसे बड़ी अथवा एकमात्र राजनीतिक पार्टी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस थी, जिसके जन्मदाता एक अंग्रेज जार्ज ऑक्टेवियस ह्यूम थे तथा विलियम वेडरवन, डॉ. एनी बेसेंट, जार्ज यूल जैसे विदेशियों का वर्चस्व भी उसके मंचों पर था । वैसे बाल गंगाधर तिलक, गोपालकृष्ण गोखले, महामना मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय सरीखे तेजस्वी नेताओं का उदय हो चुका था । दादाभाई नौरोजी से लेकर उमेशचन्द्र बनर्जी तक कांग्रेस के जो नेता देश के सामने थे उनकी बौद्धिक क्षमता के बारे में किसी प्रकार के सन्देह की गुंजाइश नहीं थी, लेकिन उनकी आवाज में भारत के सामान्य जन का दर्द तथा आक्रोश व्यावहारिक रूप से नहीं फूट रहा था । उनके भाषणों में जहां एक ओर ब्रिटिश सरकार से कुछ मांगने की दयनीयता थी, वहीं कांग्रेस के प्रस्तावों में भी कुछ पाने की लालसा अथवा सुधारों की अपेक्षा ही अधिक दिखाई देती थी ।

ऐसे समय में गांधी भारत आए । उनका बम्बई पहुंचने पर जोरदार स्वागत हुआ । दक्षिण अफ्रिका में 22 वर्षों का उनका प्रवास विचित्र स्थितियों-परिस्थितियों की दास्तान है । उसे किसी बैरिस्टर या समाजसेवक से अलग किसी ऐसे संघर्षशील व्यक्ति की कहानी मानिए जो रहता तो था दक्षिण अफ्रिका में, लेकिन सोचता था भारत के बारे में । इस बारे में सबसे बड़ा प्रमाण गांधी लिखित 'हिन्द स्वराज' है, जो उन्होंने 1909

में लिखी थी, जिसकी विषय सूची मेरे कथ्य का प्रमाण है—

कांग्रेस और उसके कर्त्ता-धर्त्ता / बंग-भंग / अशांति और असंतोष / स्वराज्य क्या है ? / इंग्लैंड की हालत / सभ्यता का दर्शन / हिन्दुस्तान कैसे गया ?/ हिन्दुस्तान की दशा-2 / हिन्दुस्तान की दशा-3 / हिन्दुस्तान की दशा-4 /हिन्दुस्तान की दशा-5 / सच्ची सभ्यता कौन-सी ? / हिन्दुस्तान कैसे आजाद हो ?/ इटली और हिन्दुस्तान / गोला-बारूद / सत्याग्रह-आत्मबल ।

निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि दक्षिण अफ्रिका से भारत आने के पहले गांधी जी ने वहां सत्याग्रह और आश्रम संबंधी हर प्रकार के प्रयोग पूरे कर लिये थे तथा संघर्ष, सहिष्णुता, विवेक, त्याग, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, श्रम और बलिदान संबंधी कई सोपान तय कर परिपक्व हो गये थे । उनके ये सारे प्रयोग भारत में काम आये । यह इस बात से प्रमाणित होता है कि दक्षिण अफ्रिका से आने के दो-तीन वर्षों के अंदर ही वह जहां एक ओर पूरे देशवासियों से परिचित हो गए, वहीं दूसरी ओर राजनीतिक तथा सामाजिक रूप से भी पूरे देश में छा गए । इसके लिए उन्हें काफी परिश्रम करना पड़ा और 1915-16-17—इन तीन वर्षों के अन्दर उन्होंने जहां भारत के एक छोर से दूसरे छोर का दौरा किया, वहीं साबरमती आश्रम की स्थापना, कांग्रेस के अधिवेशनों में भाग लेना, सभी नेताओं से सम्पर्क, चम्पारण सत्याग्रह, अहमदाबाद के मिल-मजदूरों की समस्या, शिक्षा नीति, भाषा समस्या, अछूत समस्या, स्त्रियों की जागृति आदि अनेक विषयों से भी वे जुड़े रहे । एक ओर जहां गांधी ने अपने को तिलक, गोखले, लाला लाजपत राय, सी. आर. दास, मुहम्मद अली जिन्ना, अली बंधु, मोतीलाल नेहरू, श्री निवास, टी. प्रकाश से अपना संपर्क घनिष्ठ किया, वहीं दूसरी ओर महामना पंडित मदनमोहन मालवीय, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर, एनी बेसेंट आदि के साथ भी अपने को जोड़ा । इनमें कई लोग राजनीति से ऊपर शिक्षा-संस्कृति के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे थे ।

गांधी जी को सही रूप में समझने तथा परिस्थितियों का आकलन करने के लिए जरूरी है कि उन तीन वर्षों की गांधी-परिचर्चा को हम सामने रखकर आगे बढ़ें ।

जैसा मैंने पहले ही कहा कि गांधी जी दक्षिण अफ्रिका से 9 जनवरी, 1915 को जब बम्बई पहुंचे तो उनका वहां पहुंचते ही गोखले जैसे नेताओं ने स्वागत किया और उनके अभिनन्दन में जो सभा हुई उसकी अध्यक्षता उस समय के बम्बई के प्रखर बैरिस्टर तथा राष्ट्रीय नेता श्री मोहम्मदअली जिन्ना ने की। इससे पता चलता है कि गांधी जी का महत्त्व उस समय भी था तथा सुदूर दक्षिण अफ्रिका की हवा देश में इस प्रकार पहुंच गयी थी कि गोखले जी ने उन्हें खबर दी कि बम्बई के गवर्नर उनसे मिलना चाहते हैं। अपनी आत्मकथा में इसकी चर्चा गांधी जी ने इस प्रकार की है—'मेरे बम्बई पहुंचते ही श्री गोखले ने मुझे खबर दी कि बम्बई के गवर्नर आपसे मिलना चाहते हैं और पूना आने से पहले आप उनसे मिलते आयें तो अच्छा होगा। इसलिए मैं उनसे मिलने गया। मामूली बातचीत होने के बाद उन्होंने मुझसे कहा—

'आपसे मैं एक वचन लेना चाहता हूं। मैं चाहता हूं कि सरकार के संबंध में यदि आपको कहीं कुछ आंदोलन करना हो तो उसके पहले आप मुझसे मिल लें और बातचीत कर लें।' मैंने उत्तर दिया—'यह वचन देना मेरे लिए बहुत सरल है, क्योंकि सत्याग्रही की हैसियत से मेरा यह नियम ही है कि किसी के खिलाफ कुछ करने के पहले उसका दृष्टि-बिन्दु खुद उसी से समझ लूं और अपने से जहां तक हो सके, उसके अनुकूल होने का यत्न करूं। हमेशा दक्षिण अफ्रिका में इस नियम का पालन किया है और यहां भी ऐसा ही करने का विचार करता हूं।'

इसके बाद के वर्षों का लेखा-जोखा विस्तृत इतिहास है, न केवल गांधी का वरन् देश का और राष्ट्रीय आन्दोलन का। उसकी चर्चा विस्तार से करने की आवश्यकता है, अतः उन तीन वर्षों में गांधी जी ने किन-किन स्थलों का दौरा किया तथा किन-किन क्षेत्रों में अपने को अर्पित किया, इसे ऐतिहासिक दृष्टि से देखना समीचीन होगा।

इन तीन वर्षों में गांधी जी सबसे अधिक बम्बई, अहमदाबाद और बिहार के चम्पारण में रहे। हालांकि उनकी दैनंदिनी यह बताती है कि इस बीच वे कराची से लेकर मद्रास तक और शान्तिनिकेतन से लेकर पूना तक अनेक बार गये-आये। यहां उनके विस्तृत कार्यक्रमों की झांकी इसलिए दे रहा हूं जिससे यह पता चल सके कि एक व्यक्ति विपरीत परिस्थितियों में भी कितना विस्तृत संबंध-सम्पर्क रख सकता है। निश्चय

ही इसके उदाहरण गांधी जी थे।

वर्ष 1915

बम्बई : 9 से 15 जनवरी / 5 से 7 फरवरी तथा 14 से 15 फरवरी / 4 मार्च / 10 मई / 14, 15 तथा 26-27 जून / 13 जुलाई / 20 और 30 सितम्बर / 28 अक्टूबर / 21 से 31 दिसम्बर

राजकोट : 17 से 21 और 28 से 31 जनवरी / 1 और 2 दिसंबर

अहमदाबाद : 16 जनवरी / 1 से 4 फरवरी / 11 से 14 और 20 से 31 मई / 1 से 10, 16 से 25 और 28 से 30 जून / 1 से 9 और 14 से 31 जुलाई / 1 से 31 अगस्त / 1 से 19 और 21 से 29 सितम्बर / 1 से 9, 11 से 27 और 29 से 31 अक्टूबर / 1 से 30 नवम्बर / 1 दिसम्बर

डोराजी : 22 जनवरी

पोरबन्दर : 23 और 26 जनवरी

गोंडल : 24, 25 और 27 जनवरी / 4 दिसंबर

पूना : 8 से 15, 22 फरवरी से 3 मार्च / 11 से 13 जून / 10 से 12 जुलाई

शांतिनिकेतन : 6 से 11 और 17 से 20 फरवरी एवं 1 से 3 अप्रैल

कलकत्ता : 12 से 14 और 28 से 31 मार्च

रंगून : 17 से 26 मार्च

मद्रास : 10 से 25 और 26 से 29 अप्रैल / 2 से 3 मई

हरिद्वार : 5 एवं 9 से 11 अप्रैल

दिल्ली : 12 से 14 अप्रैल

गुरुकुल कांगड़ी : 6 और 8 अप्रैल

ऋषिकेश : 7 अप्रैल / 1 मई

नैलोर : 3 से 7 मई

वौरंगपेट : 8 मई

लिम्डी : 19 मई / 13 और 14 दिसम्बर

बांकानेर : 3 दिसम्बर

जैतपुर : 5 दिसंबर
वरतेज : 6 दिसम्बर
भावनगर : 7 से 10 दिसंबर
अमरेली : 11 और 12 दिसंबर
बाघवन : 15 दिसंबर
ध्रांगध्रा : 16 दिसंबर

वर्ष 1916

बम्बई : 9 से 11 फरवरी / 14 जून / 13 से 16 नवम्बर ।
अहमदाबाद : 6 से 30 जनवरी / 22 से 24 फरवरी / 9 से 11 मार्च / 27 मार्च से 24 अप्रैल / 4 से 31 मई / 1 से 10, 15 से 23 और 25 से 30 जून / 1 से 31 जुलाई / 1 से 31 अगस्त / 1 से 30 सितम्बर / 1 से 31 अक्टूबर / 1 से 11 और 17 से 30 नवम्बर / 1 से 7 और 10 से 20 दिसम्बर
पूना : 19 और 20 फरवरी / 12 और 13 जून
मद्रास : 13 से 17 फरवरी
हरिद्वार : 21 से 24 मार्च
गुरुकुल-कांगड़ी : 14 से 20 मार्च
वधावन : 9 नवम्बर
सूरत : 2 और 3 जनवरी
अमलसद,
कचौली, गोंदल : 1 जनवरी
नांसारी : 5 जनवरी
किम, तारकेश्वर
कथोर,
गोला बराचा : 4 जनवरी
बनारस : 2 से 7 फरवरी
कराची : 1 और 2 मार्च
हैदराबाद : 27 से 29 फरवरी / 3 और 4 मार्च

सुक्कूर : 5 और 6 मार्च
लरकाना : 7 मार्च
देहरादून : 22 एवं 23 मार्च
बेलगांव : 27 से 30 अप्रैल / 1 मई
लखनऊ : 24 से 31 दिसंबर
इलाहाबाद : 22 और 23 दिसंबर

वर्ष 1917

बम्बई : 9 से 15 फरवरी / 4 से 5 अप्रैल / 24 से 25 जून / 31 अगस्त / 1 से 3, 12 और 19 सितम्बर
गोदरा : 18 और 19 फरवरी
अहमदाबाद : 2 से 31 जनवरी / 1 से 5, 21 से 24 फरवरी / 14 से 31 मार्च / 1 से 5 अप्रैल / 20 से 23 जून / 21 से 25, 27 से 30 अगस्त / 22 से 31 सितम्बर / 1 नवंबर / 3 से 5 दिसंबर
पूना : 12 और 13 जून / 17, 18 अगस्त / 18 सितम्बर
कलकत्ता : 7 से 11 मार्च / 7 से 9 अप्रैल / 25 से 31 दिसंबर
दिल्ली : 17 फरवरी / 4 मार्च / 26 से 28 नवम्बर
पटना : 10 अप्रैल / 10 मई / 2, 7, 8 और 27 जून / 17 अगस्त / 7 और 8 नवम्बर
मुजफ्फरपुर : 11 से 15 अप्रैल / 11 नवम्बर
मोतिहारी : 11 से 22 अप्रैल / 2, 3, 23, 24, और 25 मई / 16 से 18, 28 से 30 जून / 1 से 5, 13 से 14 जुलाई / 1 और 15 अगस्त / 11 अक्टूबर / 15 नवम्बर / 8 से 24 दिसंबर
बेतिया : 22, 23, 25, 26, 28, 29 और 30 अप्रैल / 1, 4, 5, से 9, 11 से 23, 26 से 31 मई / 1 और 9 से 16 जून / 15 से 23, 27, 30 और 31 जुलाई / 7 से 14 अगस्त / 14 नवम्बर
लौकहा : 24 अप्रैल

सिंघछपरा : 26 अप्रैल
भेलवा : 27 अप्रैल
रांची : 4 से 6 जून / 7 से 11 जुलाई / 22 से 31 अगस्त / 22 से 30 सितम्बर / 1 से 4 अक्टूबर
भागलपुर : 14 से 16 अक्टूबर
इलाहाबाद : 17 अक्टूबर
भरौंच : 19 से 21 अक्टूबर
गोदरा : 2 से 5 नवम्बर

इन चर्चाओं को यहीं छोड़कर मैं सीधा चम्पारण में प्रवेश करता हूं। गांधी जी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—'बिहार ने ही मुझे सारे हिन्दुस्तान में जाहिर किया। उससे पहले तो मुझे कोई जानता भी न था। बीस साल अफ्रिका में रहने के कारण मैं हब्शी-सा बन गया था। उसके बाद मैं चम्पारण में आया और सारा हिन्दुस्तान जाग उठा। पहले मैं जानता भी न था कि चम्पारण कहां है। लेकिन जब यहां आया तो मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मैं बिहार के लोगों को सदियों से जानता था और वे भी मुझे पहचानते थे।' 1947 में दंगे की आग में जब पूरा देश जल रहा था, तो उसकी आग बिहार में भी लगी और उस आग को बुझाने गांधी जी भागे-भागे पटना आये और उसी काल में 5 मार्च, 1947 को उन्होंने ऊपर लिखे शब्द पटना की महती सभा में व्यक्त किए।

जैसे किसी मलबे के अंदर इतिहास का स्वर्णिम अध्याय छिपा होता है, वैसे ही न जाने कितने सामान्य व्यक्ति और आम घटनाएं ऐसी हैं जो इतिहास को नयी रोशनी देती हैं और नया अध्याय जोड़ देती हैं। ऐसे ही व्यक्तियों में एक थे—राजकुमार शुक्ल, बिहार प्रांत के चम्पारण जिले के एक मामूली-से किसान जिन्होंने गांधी जी को चम्पारण लाकर अपना नाम चम्पारण के इतिहास में अमर कर दिया। इसके साथ ही बापू ने अपने अहिंसात्मक आंदोलन की जो शुरुआत चम्पारण की भूमि से की, वह भविष्य में भारत के लिए और विश्व के लिए प्रेरणा-स्रोत बनी। यह एक बड़ा मनोरंजक प्रसंग है कि गांधी जी किस प्रकार बिहार पहुंचे, राजकुमार शुक्ल ने उन्हें कैसे प्रेरित किया तथा गांधी जी ने क्या अनुभव किया।

चम्पारण बिहार का सबसे उत्तरी जिला है, जिसकी सीमा नेपाल से मिली हुई है और गांधी जी जिस समय यहां आए, यहां का किसान गोरे निलहों के अत्याचारों से नारकीय जीवन व्यतीत कर रहा था। राजकुमार शुक्ल भी उन्हीं किसानों में से एक थे, जिन पर निलहों का अत्याचार हो रहा था और उन्होंने इससे त्राण पाने के क्रम में जो भी किया उसने केवल उन्हें ही अत्याचारों से मुक्त न किया, वरन् उस जिले के लाखों किसानों का जीवन बदल दिया। गांधी जी ने जो आन्दोलन चलाया, उसने भारत की राजनीति को नयी दिशा दी। इस क्रम में हम उस व्यक्ति को कभी नहीं भूल सकते, जिसने गांधी जी को चम्पारण चलने का न्यौता दिया और उन्हें वहां ले गया।

1916 में कांग्रेस का महाधिवेशन लखनऊ में हुआ। इस अधिवेशन का महत्त्व इस रूप में अधिक था कि 1907 के सूरत कांग्रेस के विभाजन के बाद श्री बाल गंगाधर तिलक कांग्रेस अधिवेशन में आए थे और पहली बार गांधी जी ने कांग्रेस के अधिवेशन में बाजाप्ता हिस्सा लिया था। वैसे इसके पहले 1915 में कांग्रेस का जो अधियेशन बम्बई में हुआ था, उसमें गांधी जी मौजूद थे, लेकिन उस समय वे विषय-समिति के सदस्य भी नहीं थे। 1916 का कांग्रेस मतभेदों के अंत का कांग्रेस था और उपस्थिति की दृष्टि से भी बहुत बड़ी संख्या में पूरे देश से प्रतिनिधिगण इसमें आए थे। बिहार से भी उस समय के कांग्रेस के सर्वोच्च नेता ब्रजकिशोर प्रसाद और राजेन्द्र बाबू के नेतृत्व में बड़ी संख्या में प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। उन्हीं प्रतिनिधियों में एक थे—चम्पारण जिले के सीधे-सादे किसान राजकुमार शुक्ल।

राजकुमार शुक्ल को बस एक ही धुन थी कि किसी प्रकार चम्पारण के किसानों की दशा महासभा में उठाई जाय। इसके लिए राजकुमार शुक्ल कुछ प्रतिनिधियों के साथ गांधी जी के पास गये और यह निवेदन किया कि वे इस प्रश्न को उठाएं, लेकिन गांधीजी ने कहा कि 'खुद देखे बिना इस विषय पर मैं कोई राय नहीं दे सकता। आप महासभा में बोलिएगा। मुझे तो फिलहाल छोड़ ही दीजिए।'

बाद में यह सवाल ब्रजकिशोर प्रसाद ने उठाया और उसके समर्थन में राजकुमार शुक्ल ऐसे देहाती प्रतिनिधि को भी महासभा में बोलने का

मौका मिला। राजकुमार शुक्ल को इससे खुशी जरूर हुई, मगर संतोष नहीं हुआ।

गांधी जी का नाम उस समय तक बहुत प्रसिद्ध नहीं था, लेकिन न जाने क्यों उतने बड़े-बड़े नेताओं के होते राजकुमार शुक्ल की नजर गांधी जी पर ही पड़ी। उस समय कांग्रेस के अनेक महान नेतागण मंच पर विराजमान थे, लेकिन सबसे अलग राजकुमार शुक्ल इसी धुन में लग गए कि किसी प्रकार गांधी जी को चम्पारण ले चला जाये और उन्हें वहां की दीन-दशा दिखलाई जाए। राजकुमार शुक्ल ने गांधी जी से पंडाल में ही पहली मुलाकात की और उनसे निवेदन किया कि वे चम्पारण चलें और अपनी आंखों से वहां का हाल देखें। इस घटना का, जिसके कारण राजकुमार शुक्ल के संबंध में पूरी जानकारी होती है, राजेन्द्र बाबू ने निम्न रूप से अपनी 'आत्मकथा' में वर्णन किया है—

'बिहार के भी प्रतिनिधि अच्छी संख्या में लखनऊ पहुंचे थे। उनमें कुछ लोग चम्पारण के थे, जिनमें एक देहाती किसान राजकुमार शुक्ल थे। वह थोड़ी हिन्दी जानते थे, पर और कोई भाषा नहीं। वह उन लोगों में थे जिन्होंने खुद निलवरों के हाथ से दुःख पाया था। चम्पारण जिले की सताई हुई प्रजा की ओर से वह कांग्रेस में पहुंचे थे। उनसे मेरी मुलाकात कुछ पहले से ही थी, क्योंकि जब कभी कोई मुकदमा हाईकोर्ट में पहुंच पाता था, तो मैं फीस की परवाह न करके उन लोगों के वकील की हैसियत से काम कर दिया करता था।

'यह बात बिहार के लोगों को मालूम थी कि कर्मवीर गांधी दक्षिण अफ्रिका में बहुत कुछ करके हिन्दुस्तान आए हैं, इससे उनसे इस काम में मदद लेनी चाहिए। राजकुमार शुक्ल आदि उनसे मिले और चम्पारण का कुछ हाल कह सुनाया। उन्होंने कुछ दिलचस्पी जाहिर की। इधर से कहा गया कि कांग्रेस में वह एक प्रस्ताव उपस्थित करें। उन्होंने इनकार कर दिया, कहा कि जब तक वहां की स्थिति वह स्वयं देखकर और जांचकर अपने को सन्तुष्ट नहीं कर लेंगे, प्रस्ताव उपस्थित नहीं कर सकते। जोर देने पर उन्होंने कहा कि वहां जाकर स्थिति देखने के लिए वे तैयार हैं और कुछ दिनों के बाद वहां जायेंगे भी। कांग्रेस में प्रस्ताव बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद ने उपस्थित किया। राजकुमार शुक्ल भी उस पर कुछ बोले। यह

शायद पहला ही मौका था जब एक निरा देहाती किसान कांग्रेस के मंच से किसी प्रस्ताव पर बोला हो ।'

राजेन्द्र बाबू का उपर्युक्त विवेचन उस समय की परिस्थिति, गांधी जी और राजकुमार शुक्ल के संबंध में पर्याप्त प्रकाश डालता है ।

राजकुमार शुक्ल तो मानो दृढ़प्रतिज्ञ थे कि वे गांधी जी को चम्पारण ले जाकर ही दम लेंगे । अतः उन्होंने गांधी जी को वहां ले चलने के लिए क्या-क्या किया और कैसी दृढ़ता दिखलाई, इसके लिए आवश्यक है कि गांधी जी के शब्दों का ही हम सहारा लें—"राजकुमार शुक्ल चम्पारण के एक किसान थे । उन पर दुख पड़ा । यह दुख उन्हें खलता था । पर इस दुख से उनके भीतर नील का धब्बा सबके लिए धो डालने की आग जली ।

"लखनऊ की महासभा में मैं गया था । वहीं इन किसानों ने मेरा पल्ला पकड़ा । 'वकील बाबू आपको सब हाल बताएंगे'—यह कहते जाते और मुझे चम्पारण आने का न्यौता देते जाते थे । वकील बाबू से मतलब था मेरे चम्पारण के प्रिय साथी, बिहार के सेवा-जीवन के प्राण ब्रजकिशोर बाबू । राजकुमार शुक्ल उन्हें मेरे तम्बू में लाए । उन्होंने काले कपड़े की अचकन, पतलून वगैरह पहन रखी थी । मेरे मन पर उनकी कोई अच्छी छाप न पड़ी । मैंने मान लिया कि वह भोले किसानों को लूटने वाले कोई वकील साहब होंगे । मैंने चम्पारण की कथा उनसे थोड़ी-सी सुनी । अपनी साधारण रीति के अनुसार मैंने जवाब दिया, 'खुद देखे बिना इस विषय पर मैं कोई राय नहीं दे सकता । आप महासभा में बोलिएगा । मुझे तो फिलहाल छोड़ ही दीजिए ।' राजकुमार शुक्ल को महासभा की मदद की जरूरत थी ही । चम्पारण के बारे में महासभा में ब्रजकिशोर बाबू बोले और सहानुभूति प्रस्ताव पास हुआ ।

"राजकुमार शुक्ल को खुशी हुई । पर इतने से ही उन्हें संतोष नहीं हुआ । वह तो खुद मुझे चम्पारण के किसानों का दुख दिखाना चाहते थे । मैंने कहा, 'अपने दौरे में मैं चम्पारण को भी शामिल कर लूंगा और एक-दो दिन दूंगा ।' उन्होंने कहा, 'एक दिन काफी होगा, अपनी नजरों से देखिए तो सही ।'

"लखनऊ से मैं कानपुर गया । वहां भी राजकुमार शुक्ल मौजूद

थे । 'यहां से चम्पारण बहुत नजदीक है, एक दिन दे दीजिए ।' 'अभी मुझे माफ करें । पर मैं आऊंगा, यह वचन देता हूं ।' यह कहकर मैं अधिक बंध गया ।

"मैं आश्रम गया तो राजकुमार शुक्ल वहां भी मेरे पीछे लगे हुए थे । 'अब तो दिन मुकर्रर कीजिए ।' मैंने कहा, 'जाइए, मुझे फलां तारीख को कलकत्ते जाना है, वहां आइयेगा और मुझे ले जाइयेगा ।' कहां जाना, क्या करना, क्या देखना है, इसका मुझे कुछ पता नहीं था । कलकत्ता में भूपेन बाबू के यहां मेरे पहुंचने के पहले उन्होंने डेरा डाल रखा था । इस अपढ़, अनगढ़ पर निश्चयवान किसान ने मुझे जीत लिया ।"

(आत्मकथा)

गांधी जी ने जो वर्णन किया है, वह संक्षिप्त है । राजकुमार शुक्ल जब गांधी जी के साबरमती आश्रम से लौटे और कलकत्ता की तिथि का इंतजार करने लगे, तो उन्हीं दिनों उन्होंने 27.2.1917 को गांधी जी को एक पत्र दिया जो उस व्यक्ति की सरलता तथा गांधी जी के प्रति निष्ठा को परिलक्षित करता है—

'मान्यवर महात्मा,

किस्सा सुनते हो रोज औरों के,
आज मेरी भी दास्तान सुनो ।

आपने उस अनहोनी को प्रत्यक्ष कर कार्य रूप में परिणत कर दिखाया, जिसे टाल्सटाय जैसे महात्मा केवल विचार करते थे । इसी आशा और विश्वास के वशीभूत होकर हम आपके निकट अपनी रामकहानी सुनाने के लिए तैयार हैं । हमारी दुखभरी कथा उस दक्षिण अफ्रिका के अत्याचार से—जो आप और आपके अनुयायी वीर सत्याग्रही बहनों और भाइयों के साथ हुआ—कहीं अधिक है ।

'हम अपना वह दुख जो हमारी 19 लाख आत्माओं के हृदयों पर बीत रहा है—सुनाकर आपके कोमल हृदय को दुखित करना उचित नहीं समझते । बस केवल इतनी ही प्रार्थना है कि आप स्वयं आकर अपनी आंखों से देख लीजिए, तब आपको अच्छी तरह विश्वास हो जाएगा कि भारतवर्ष के एक कोने में यहां की प्रजा—जिसको ब्रिटिश छत्र की सुशीतल छाया में रहने का अभिमान प्राप्त है—किस प्रकार के कष्ट सहकर पशुवत

जीवन व्यतीत कर रही है ।

'हम और अधिक न लिखकर आपका ध्यान उस प्रतिज्ञा की ओर आकर्षित करना चाहते हैं, जो लखनऊ कांग्रेस के समय और फिर वहां से लौटते समय कानपुर में आपने की थी, अर्थात्, 'मैं मार्च-अप्रैल महीने में चम्पारण आऊंगा ।' बस, अब समय आ गया है । श्रीमान् अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करें । चम्पारण की 19 लाख दुखी प्रजा श्रीमान् के चरण-कमल के दर्शन के लिए टकटकी लगाए बैठी है और उन्हें आशा ही नहीं, बल्कि पूर्ण विश्वास है कि जिस प्रकार भगवान श्रीरामचन्द्र जी के चरण-स्पर्श से अहल्या तर गई, उसी प्रकार श्रीमान् के चम्पारण में पैर रखते ही हम 19 लाख प्रजाओं का उद्धार हो जाएगा ।

श्रीमान् का दर्शनाभिलाषी,
ह०/– राजकुमार शुक्ल'

गांधी जी को लिखे गए इस पत्र से राजकुमार शुक्ल के संबंध में और भी जानकारी होती है । एक देहाती का सरल, सीधा, निष्कपट और उत्साह-लगन से पूर्ण पत्र । गांधी जी ने इस पत्र का जवाब देते हुए लिखा कि वे 7 मार्च को कलकत्ता आएंगे और राजकुमार शुक्ल वहीं आकर उनसे मिलें और साथ चम्पारण ले जाएं । डाक की गलती से और देहात में राजकुमार शुक्ल का घर होने की वजह से गांधी जी का पत्र ठीक समय पर शुक्ल जी को नहीं मिल सका और जब ये कलकत्ता पहुंचे तब तक गांधी जी वहां से दिल्ली लौट गए थे । निराश-हताश राजकुमार शुक्ल चम्पारण लौट गए, लेकिन उन्होंने गांधी जी को दूसरा पत्र लिखा, जिसके उत्तर में गांधी जी का 3-4-1917 का भेजा तार शुक्ल जी को मिला कि वे कलकत्ता में उनसे आकर भूपेन बाबू के घर पर मिलें, जहां गांधी जी को ठहरना था और इस बार गांधी जी के कलकत्ता पहुंचने के पहले ही राजकुमार शुक्ल भूपेन बाबू के यहां डेरा डाले हुए थे ।

श्री डी. जी. तेंदुलकर ने 'गांधी जी इन चम्पारण' में तो यहां तक लिखा है कि लखनऊ कांग्रेस में राजकुमार शुक्ल ने गांधी जी के तम्बू में जाकर उनके पांव पकड़ लिये और चम्पारण चलने की प्रार्थना की । इसके पहले यह सही है कि गांधी जी ने चम्पारण का नाम भी नहीं सुना था ।

अप्रैल, 1917 में गांधी जी कलकत्ता में कांग्रेस समिति की बैठक

में भाग लेने आए थे, जहां राजेन्द्र बाबू तथा बिहार के बहुत सारे सदस्यगण गए हुए थे, लेकिन किसी को भी इस बात की जानकारी नहीं थी कि गांधी जी यहां से बिहार जाने वाले हैं । यहां तक कि राजेन्द्र बाबू दो दिनों तक लगातार गांधी जी के बगल में ही समिति की बैठक में बैठे, लेकिन संकोची स्वभाव के कारण उन्होंने गांधी जी से बात तक नहीं की, इसका वर्णन स्वयं राजेन्द्र बाबू ने अपनी 'आत्मकथा' में किया है ।

राजकुमार शुक्ल 9 अप्रैल, 1917 को कलकत्ता से गांधी जी को साथ लेकर पटना के लिए रवाना हुए । 'पटना में कहां ठहरना होगा' के जवाब में राजकुमार शुक्ल ने ऐसा प्रदर्शित किया मानो पटना में बहुत सारे लोग उनके परिचित-मित्र हैं और ठहरने की कोई दिक्कत नहीं होगी। लेकिन पटना पहुंचकर जब वे गांधी जी को लेकर राजेन्द्र बाबू के निवासस्थान पर गए, तो उनकी कलई खुल गई । दरअसल राजकुमार शुक्ल एक निरे देहाती किस्म के कार्यकर्त्ता थे । गांधी जी ने अपनी 'आत्मकथा' में पहली बार पटना पहुंचने का बहुत ही अच्छा और रोचक वर्णन किया है–

'सन् 1917 के आरंभ में कलकत्ते से हम दोनों जने रवाना हुए। दोनों की एक-सी जोड़ी थी । दोनों किसान जैसे ही लगते थे । राजकुमार शुक्ल जिस गाड़ी में ले गए, उसमें हम दोनों घुसे । सवेरे पटने में उतरे।

'पटने की यह मेरी पहली यात्रा थी । वहां मेरा किसी से ऐसा परिचय नहीं था कि उसके घर टिक सकूं । मेरे मन में था कि राजकुमार शुक्ल यद्यपि अनपढ़ किसान हैं, तथापि उनका कोई वसीला तो होगा ही । ट्रेन में मुझे उन्हें कुछ अधिक जानने का मौका मिला । पटने में उनका पर्दा खुल गया । राजकुमार बिलकुल भोले थे । उन्होंने जिन्हें मित्र मान रखा था, वह वकील उनके मित्र नहीं थे, बल्कि राजकुमार शुक्ल उनके आश्रित सरीखे थे । किसान मुवक्किल और वकीलों के बीच तो चौमासे के गंगा के चौड़े पाट के जितना अंतर था ।

'मुझे वह राजेन्द्र बाबू के यहां लिवा ले गए । राजेन्द्र बाबू पुरी या और कहीं गए हुए थे । बंगले पर एक-दो नौकर थे । खाने को कुछ मेरे पास था । मुझे खजूर की जरूरत थी । वह बेचारे राजकुमार शुक्ल बाजार से ले आए ।

'पर बिहार में छुआछूत का बड़ा जोर था। मेरे डोल के पानी के छींटों से नौकरों को छूत लग जाती थी। नौकरों को क्या मालूम कि मैं किस जाति का हूं। राजकुमार ने अंदर का पाखाना काम में लाने को कहा। नौकर ने बाहर के पाखाना की ओर अंगुली दिखाई। मेरे लिए इसमें कहीं परेशानी या रोष का कारण नहीं था। ऐसे अनुभवों में मैं पक्का हो गया था। नौकर तो अपने धर्म का पालन कर रहा था और राजेन्द्र बाबू के प्रति उसका जो फर्ज था, उसे बजाता था। इन मनोरंजक अनुभवों से राजकुमार शुक्ल के लिए मेरे मन में आदर बढ़ा। उसी के साथ उनके विषय में मेरा ज्ञान भी बढ़ा। पटने से मैंने लगाम अपने हाथ में ले ली।'

उसके बाद गांधी जी के पटना आने की खबर मौलाना मजहरूल हक साहब को मिली और वे गाड़ी लेकर आए तथा गांधी जी को अपने बंगले पर ले गए। श्री मजहरूल हक और गांधी जी दोनों साथ ही लंदन में पढ़ते थे।

जो हो, इतना स्पष्ट है कि गांधी जी की बिहार की पहली यात्रा और उसके बाद चम्पारण तक पहुंचने का श्रेय अगर किसी को है तो वह राजकुमार शुक्ल को ही। इस निरीह देहाती किस्म के कार्यकर्त्ता के मन में जो कर्मठता और निष्ठा थी, उसका सबूत गांधी जी और राजेन्द्र बाबू, दोनों के वक्तव्यों में दिखायी देता है। राजकुमार शुक्ल जब पटना से गांधी जी को लेकर मोतिहारी, जो चम्पारण जिले का सदर मुकाम है, के लिए रवाना हुए तो मुजफ्फरपुर में ट्रेन रात में पहुंची और वहां कृपलानी जी ने, जो उन दिनों वहीं प्रोफेसर थे, लड़कों के साथ गांधी जी का स्वागत किया। मुजफ्फरपुर में गांधी जी दो-तीन दिन रुके, उसके बाद कुछ और लोगों की टोली के साथ मोतिहारी पहुंचे।

चम्पारण में गांधी जी ने जो सत्याग्रह आंदोलन की शुरुआत की, वह आज राष्ट्रीय इतिहास का एक ऐसा अध्याय बन गया है, जिसके संबंध में विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। भारत की राजनीति ने चम्पारण के साथ-साथ गांधी जी को पहचाना और गांधी जी ने चम्पारण आन्दोलन द्वारा राजनीति को मंचों और प्रस्तावों से उठाकर व्यावहारिकता की कसौटी पर लाकर खड़ा कर दिया। गांधी जी के सद्प्रयत्नों से निलहों

के अत्याचारों से मुक्ति के लिए ब्रिटिश सरकार को एक कमीशन की नियुक्ति करनी पड़ी, जिसमें गांधी जी भी एक सदस्य बनाए गए। शायद यह पहला अवसर था जब गांधी जी के सामने सरकार को झुकना पड़ा। कमीशन के सामने निलहों का, जमींदारों का तथा किसानों का बयान हुआ जिसमें किसानों की ओर से पहला बयान राजकुमार शुक्ल का ही हुआ।

आवश्यकता इस बात की है कि इतिहास की कोख में छिपे राजकुमार शुक्ल जैसे लोगों को हम याद रखें, जिनका किसी न किसी रूप में इतिहास पर ऋण है। वास्तव में वह भूमि धन्य है जहां बापू के प्रथम क्रान्तिकारी चरण पहुंचे और चम्पारण राष्ट्रीय जन-जीवन का एक अभिलेख बन गया। आज यह जिला दो हिस्सों में बंट गया है—पूर्वी चम्पारण और पश्चिमी चम्पारण। लेकिन उन दिनों के बहुत सारे आश्रम, विद्यालय, व्यक्तियों की आंखें, जिन्होंने गांधी जी को देखा था—अतीत की याद दिला देती हैं। गांधी जी ने उस समय साक्षी लेने तथा निलहों के अत्याचारों से त्रसित किसानों की सही हालत जानने हेतु जो टीम बनाई उसमें डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, डॉ. अनुग्रहनारायण सिंह, ब्रजकिशोर प्रसाद, रामनवमी प्रसाद, बिन्देश्वरी प्रसाद वर्मा, धरणीधर प्रसाद, शिवनन्दन प्रसाद, महेन्द्रनाथ सिन्हा, गोरख प्रसाद तथा आचार्य कृपलानी जैसे लोग शामिल थे। इस सबों ने गांवों में घूम-घूमकर तथा बेतिया और मोतिहारी में कैम्प करके हजारों की संख्या में ऐसे पीड़ितों का बयान दर्ज किया, जिनके ऊपर अमानुषिक अत्याचार हो रहे थे। मेरे पास 1917 में किसानों द्वारा इस टोली के सामने दिए गए बयानों की वह प्रति मौजूद है, जो भोजपुरी अथवा हिन्दी में सुनकर अंग्रेजी में अनूदित और टंकित होकर गांधी जी के सामने प्रस्तुत की गयी थी। इनमें से दो बयानों के हिन्दी अनुवाद मैं उदाहरणार्थ प्रस्तुत कर रहा हूं–

श्रीमती अतरनी द्वारा दिनांक 7-5-17 को बेतिया की लाल सरैया कोठी में श्री अनुग्रहनारायण सिंह के समक्ष दिया गया बयान :

लाल सरैया कोठी, बेतिया

7.5.17

मैं, अतरनी, विधवा पत्नी बिहारी मल्लाह, उम्र 50 वर्ष, निवासी– मझौलिया, थाना-मझौलिया अपना बयान प्रस्तुत

करती हूं ।

मेरे पास 1 बीघा 10 कट्ठा जमीन है, जिसके लिए मैं एक रुपया आठ आना भुगतान करती थी । जब उसका भुगतान मुझे कोठी पर जाकर पूरना होता था, तो मुझसे चार रुपया आठ आना, जिसके अन्तर्गत रु० 1/= घराई, 1/= सलामी, 1/= दावातपूजा फरकावन आदि का भुगतान करवाया जाता था । इस दर से मैं हमेशा भुगतान किया करती थी । गत वर्ष, झगरू साह गुमास्ता, मुझसे पूर्ववत् लगान मांगने के लिए आए । मेरा धैर्य जवाब दे गया । मैंने मनीआर्डर से लगान भेज दिया । यह वापस कर दिया गया । तदुपरान्त मैंने मोतिहारी कोर्ट में अपना लगान रु० 1-9-0 जमा कर दिया । गत माघ महीने में झगरू साह तहसीलदार चरित्र राय और पटवारी लगान मांगने आए । मैंने कहा कि मैंने लगान मोतिहारी में जमा कर दिया है, तब वे मेरे भगिना (भांजा) को कठोरतापूर्वक पीटने लगे । इससे भयभीत होकर मैंने झगरू साह को 4/- चार रुपया भुगतान कर दिया। उन्होंने कहा कि तुझे चार रुपया और भुगतान करना है, तब रसीद दी जाएगी । उन्होंने शेष राशि को बैसाख में भुगतान करने को कहा । 15 दिन हुए मैंने झगरू साह को एक रुपया भुगतान कर दिया ।

अंगूठे की निशानी/अतरनी ह०/अनुग्रहनारायण सिंह

7-5-17

यह बयान रामखेलावन मल्लाह द्वारा बेतिया की साल सरैया कोठी में दिनांक 7-5-17 को श्री अनुग्रहनारायण सिंह के समक्ष दिया गया।

मैं रामखेलावन मल्लाह, आत्मज हीरा मल्लाह, उम्र 35 वर्ष, ग्राम मंझरिया, थाना– मझौलिया निम्न बयान देता हूं–

मुझे रु० 7-1-3 (सात रुपया एक आना तीन पाई) लगान भुगतान करना था । लेकिन कोठी गत 8 वर्षों का लगान पगुआही, धोराही, फरकावन, सलामी सूद आदि सहित रु० 12/- (बारह रुपये) की दर से वसूल कर रही थी । इस

दर से भुगतान करते-करते मैं थक गया था। इसलिए मैंने वास्तविक लगान मनीआर्डर से भेज दिया जिसे इनकार कर दिया गया । इस पर मैंने उसे दिनांक 29-5-16 को मोतिहारी कोर्ट में जमा कर दिया। फागुन के अंत में झगरू साह मुझसे लगान वसूल करने आए। मैंने कुछ रुपये की व्यवस्था की और उन्हें रु० 2/- (दो रुपये) भुगतान कर सका । मैंने चार रुपये बैसाख में भुगतान किया । 15 दिनों के बाद मैंने दो रुपये दिया । अब वे पांच रुपये मांगने लगे और कहने लगे कि जब वे पूरा भुगतान कर देंगे तब रसीद दी जाएगी। सिपाही रामशरण राय ने मुझे उसी दिन पीटा जिस दिन मैंने दो रुपया भुगतान किया।

ह०/ अनुग्रहनारायण सिंह अंगूठे का निशान

7-5-17 रामखेलावन

सत्याग्रह का अभिनव प्रयोग जिसका परीक्षण सफलता के साथ गांधी जी दक्षिण अफ्रीका में कर चुके थे, भारत की धरती पर चम्पारण से ही प्रारंभ हुआ । इस प्रकार बुद्ध और महावीर की भूमि पर एक नये मसीहा का आविर्भाव हुआ, जिसने दुनिया की सबसे बड़ी शक्ति को झुकने के लिए मजबूर किया तथा पूरा देश चम्पारण को गांधी जी के माध्यम से और गांधी जी को चम्पारण के माध्यम से जान गया । चम्पारण सत्याग्रह का विशद वर्णन हमें डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की पुस्तक 'चम्पारण में महात्मा गांधी' तथा श्री जी. डी. तेन्दुलकर की पुस्तक 'जब गांधी जी चम्पारण आए' के द्वारा मिलती है । यों तो इस संबंध में सैकड़ों पुस्तकें उपलब्ध हैं, जरूरी है कि उपरोक्त दोनों पुस्तकों में हम झांकें, लेकिन उसके पहले यह भी आवश्यक है कि गांधी जी की अपनी अनुभूतियों का सहारा लें। बापू ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है– 'चम्पारण राजा जनक की भूमि है । चम्पारण में जैसे आम के वन हैं, उसी तरह 1917 में नील के खेत थे । चम्पारण के किसान अपनी जमीन के 3/20 हिस्से में जमीन के असली मालिक के लिए नील की खेती करने पर कानूनन बाध्य थे। इसे वहां 'तीनकठिया' कहते थे । 20 कट्ठे का वहां एक एकड़ था और उसमें से तीन कट्ठे नील बोना पड़ता था । इसलिए उस प्रथा का नाम था

था 'तीनकठिया' ।

मैं यह कह देना चाहता हूं कि चम्पारण में जाने के पहले मैं उसका नाम-निशान तक नहीं जानता था । यह ख़याल भी प्रायः नहीं के बराबर था कि वहां नील की खेती होती है । नील की गोटियां देखी थीं, परन्तु मुझे यह बिलकुल पता न था कि वे चम्पारण में बनती थीं और उनके लिए हजारों किसानों को दुख उठाना पड़ता था ।'

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद उन लोगों में थे, जिन्होंने गांधी जी के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चम्पारण सत्याग्रह में काम किया था । यों तो उस समय गांधी जी की टोली में बिहार के प्रखरतम बुद्धिजीवी तथा वकील शामिल थे और मुजफ्फरपुर तथा मोतिहारी के अनेक छोटे-बड़े लोगों का सहयोग प्राप्त था, लेकिन ज़िन लोगों के नाम प्रमुखता से लिये गए हैं, उनमें डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, आचार्य कृपलानी, बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद, डॉ. अनुग्रहनारायण सिंह, रामनवमी प्रसाद, शम्भु प्रसाद, रामदयाल शाह, धरणीधर प्रसाद, गोरखप्रसाद, बिन्देश्वरीप्रसाद वर्मा आदि हैं । चूंकि राजेन्द्र बाबू उन दिनों बिहार के प्रमुख वकीलों तथा कांग्रेस के वरिष्ठ नेताओं में थे, अतः उनके चम्पारण-सत्याग्रह आंदोलन में कूदते ही बिहार के सभी अग्रणी व्यक्तित्व इसमें शामिल हो गए । चम्पारण सत्याग्रह 1917-18 दो वर्षों तक चला । देश में पहली बार ब्रिटिश सरकार को झुकना पड़ा, जिसके परिणामस्वरूप कमीशन गठित हुआ और सरकार ने न्याय, शक्ति तथा सत्य के आग्रह को स्वीकार किया और उसने 'तीनकठिया' कानून उठाकर गांधी जी की टोली को 'नील के धब्बे' धोने का श्रेय दिया ।

इस संबंध में राजेन्द्र बाबू की पुस्तक 'चम्पारण में महात्मा गांधी' पहली कृति है जो उस आन्दोलन के चार वर्षों बाद 1922 में प्रकाशित हुई । उससे पूरी दुनिया और देश को सविस्तार सत्याग्रह आन्दोलन, चम्पारण, नील की खेती, किसानों की दशा, निलहों का जुल्म और मोहनदास करमचंद गांधी के जादुई प्रभाव जानने का अवसर मिला ।

गांधी और चम्पा ण

गांधी और चम्पारण अथवा चम्पारण और गांधी– इन शीर्षकों पर बात आगे बढ़े, इससे पहले यह जरूरी है कि चम्पारण को जाना जाए। यह बिहार प्रांत के सबसे उत्तरी भाग में नेपाल से सटा हुआ जिला है, जो कभी महाराज जनक के साम्राज्य का अंग था तथा इस जिले के कण-कण में आज भी विदेहराज जनक, भगवान राम, देवी सीता, महर्षि याज्ञवलक्य, मैत्रेयी, गार्गी आदि की कहानियां बिखरी पड़ी हैं। उन्नीसवीं शताब्दी तक चम्पारण का बहुत बड़ा हिस्सा नेपाल-राज्य के अंतर्गत था, लेकिन 1814-15 में अंग्रेजों और गोरखों के बीच भयानक लड़ाई हुई और अंत में सन् 1815 में दोनों के बीच स्थायी संधि हुई, जिसके फलस्वरूप नेपाल का वह हिस्सा भी चम्पारण का अंग बना और तब से वह बिहार के साथ रहा। सन् 1815 में संपन्न इस करारनामे को 'सुगौली संधि' कहते हैं।

1917 में जब गांधी जी यहां निलहों के अत्याचार से पीड़ित होकर किसानों के दुख-दर्दों को सुनने-समझने आए, उस समय यहां की आबादी लगभग बीस लाख थी तथा यह जिला पूरब में मुजफ्फरपुर तक और पश्चिम में उत्तरप्रदेश के देवरिया जिला एवं दक्षिण में सारण जिला और उत्तर में नेपाल की तराई तक फैला हुआ था। 1973 तक चम्पारण जिले का नक्शा यही रहा, लेकिन उसी साल चम्पारण जिले के निवासी श्री केदार पांडे ने, जो उन दिनों बिहार के मुख्यमंत्री थे, जिले को दो हिस्से में बांट दिया– बेतिया और मोतिहारी। गांधी जी के सत्याग्रह आंदोलन के कारण इस जिले का नाम 'चम्पारण' के रूप में विख्यात हो गया था, अतः वहां के लोगों ने बेतिया तथा मोतिहारी नाम का विरोध किया और अंत में सरकार को उनकी बात माननी पड़ी और दो भागों में बंटे इस

प्राचीन जिले का नामकरण पूर्वी चम्पारण तथ पश्चिमी चम्पारण किया गया। पूर्वी चम्पारण का मुख्यालय मोतिहारी तथा पश्चिमी चम्पारण का मुख्यालय बेतिया है। इस संबंध में मुझे एक रोचक प्रसंग याद आ रहा है जिसकी चर्चा कर दूं तब आगे बढ़ूं। "नहीं, शंकरदयाल जी, मैं कभी भी चम्पारण का नाम बदलकर बेतिया और मोतिहारी नहीं होने दूंगा। मर जाऊंगा, तब मेरी लाश पर यह नाम होगा। केदार पांडे अपने को समझते क्या हैं ? जिला को बांट देंगे तो क्या नाम को उड़ा देंगे ?" सत्तर-पचहत्तर साल की अपनी उम्र को परे ढकेलते हुए कांग्रेसी तथा निर्मल गांधीवादी और तत्कालीन संसद सदस्य पं० विभूति मिश्र ने मुझसे ये बातें कही थीं, जो आज भी रह-रहकर याद आती हैं।

हुआ यह था कि श्री केदार पांडे जब मुख्यमंत्री बने तो उन्होंने एक अच्छा-सा निर्णय लिया कि बिहार में बड़े-बड़े जिले हैं, इससे बिहार को भरपूर केन्द्रीय वित्तीय सहायता भी नहीं मिल पाती है, अतः जो बड़े जिले हैं, उनका विभाजन जरूरी है। और इस प्रकार बिहार जो 16 जिलों का ही प्रान्त था, एकबारगी केदार पांडे के मुख्यमंत्री—काल में 16 से 32 जिलों का हो गया।

जब मूल जिलों के टुकड़े होने लगे, तो नाम का प्रश्न भी आया। मुख्य तौर से जो शहर जिस जिले के मध्य में पड़ा, उसको ही जिला मुख्यालय बनाकर वही नाम दे दिया गया, जैसे— नवादा जिला, औरंगाबाद जिला, कटिहार जिला, मधुबनी जिला आदि और उसी क्रम में यह फैसला हुआ कि चम्पारण का भी दो खंडों में विभाजन किया जाए—मोतिहारी और बेतिया।

इसी को लेकर वहां तूफान उठ खड़ा हुआ और पं० विभूति मिश्र जैसे पुराने गांधीवादी और कांग्रेसी तमतमाकर खड़े हो गए— 'चम्पारण के नाम कइसे बदलाई। भला ई ऐतिहासिक जिला बा, जहां गांधीजी के सत्याग्रह के सुरआत भईल। दुनिया गांधी जी के चम्पारण नांव से जानेला। अउर ऊ चम्पारण के नाम केदार पांडे बदल दी हैं। विभूति मिसिर के लास उठी तब जाके ई होई।'

ऐसी ही भावनाएं सभी कोनों से आने लगीं तथा गांधी का जिला चम्पारण अपना अस्तित्व इतिहास में खो न दे, इसके लिए आंदोलन,

जागरण, बातचीत सब कुछ की शुरुआत हो गयी और अंत में जाकर यह तय पाया गया कि इसे दो हिस्सों में बांटा जाए जरूर लेकिन दोनों का नाम चम्पारण ही रहेगा– 'पूर्वी चम्पारण' और 'पश्चिमी चम्पारण', जिससे इतिहास जाने और पहचाने कि यह वही जिला है, जहां मोहनदास करमचंद गांधी ने 1917 में निलहों के अत्याचारों के खिलाफ सत्याग्रह की शुरुआत की थी, सोए तथा मुर्दा हड्डियों के ढांचे में अतुलित साहस और बल भर दिया था।

गांधीजी ने भारत में अपने राजनीतिक संघर्ष की शुरुआत यहीं से की। 1917 में वे कुल मिलाकर एक सौ पचहत्तर दिन इस जिले में तथा प्रांत के अन्य हिस्सों में रहे। उनका मुख्यालय मोतिहारी तथा बेतिया दोनों था। आज भी इन दोनों जिलों के हर हिस्से में गांधी जी की पदचाप सुनाई देती है। ईसा के तीन सौ वर्ष पूर्व सम्राट अशोक ने इस जिले के लौरिया अरेराज तथा नंदनगढ़ में अपने शांति अथवा धम्म-स्तंभों की स्थापना करवाई थी तथा उन पर अपने संदेश प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि में अंकित कराए थे– "क्योंकि यही (मेरी) विधि है, धर्म द्वारा राज्य, धर्मानुसार शासन, धर्म द्वारा सुख, धर्म द्वारा रक्षा।"

महात्मा गांधी की जन्म-शताब्दी के समय 1969 में मोतिहारी में गांधी जी के सत्याग्रह की याद में पुनः दो हजार दो सौ वर्ष के अंतर से एक स्तंभ की स्थापना की गई। इस प्रकार बुद्ध, अशोक और गांधी चम्पारण के प्रतिबिम्ब हैं। विदेहराज जनक से प्रारंभ चम्पारण की गौरव-गाथा गांधी के सत्याग्रह आंदोलन तक पहुंचकर विराम लेती है।

'गांधी और चम्पारण' शीर्षक के पीछे एक व्यापक परिवेश है जिसे मैं गांधीजी के दक्षिण अफ्रिका में किए गए सत्य के प्रति आग्रह को, चम्पारण के सत्याग्रह के साथ जोड़ता हूं। इसे सजीव रूप में ग्रहण करने अथवा इसका मूल्यांकन करने हेतु हमारे पास सबसे बड़े प्रमाण के रूप में दो दस्तावेज हैं– गांधीजी की आत्मकथा तथा डॉ० राजेन्द्र प्रसाद की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'चम्पारण में महात्मा गांधी'।

चम्पारण को, उस ऐतिहासिक सत्याग्रह आंदोलन को, निलहों के अत्याचार को, नील की खेती को, किसानों की वास्तविक स्थिति को, उस समय की सामाजिक-राजनीतिक परिस्थिति को भलीभांति समझने के लिए

हमें उन्हीं की शरण में जाना होगा। सबसे पहले गांधी जी की आत्मकथा के उस विस्तृत भाग को अपने सामने रखें, जिनसे गांधी जी के व्यक्तित्व और तत्कालीन परिस्थितियों का सही परिचय हमें हो सके– "याद रहे कि चम्पारण में मुझे कोई पहचानता न था। किसान-वर्ग बिलकुल अनपढ़ था। चम्पारण गंगा के उस पार ठेठ हिमालय की तराई में नेपाल का समीपवर्ती प्रदेश है अर्थात् नयी दुनिया है। वहां न कहीं कांग्रेस का नाम सुनाई देता था, न कांग्रेस के कोई सदस्य दिखाई पड़ते थे। जिन्होंने नाम सुना था वे कांग्रेस का नाम लेने में अथवा उसमें सम्मिलित होने में डरते थे। आज का कांग्रेस के नाम के बिना कांग्रेस ने और कांग्रेस के सेवकों ने इस प्रदेश में प्रवेश किया और कांग्रेस की दुहाई फिर गई।

साथियों से परामर्श करके मैंने निश्चय किया था कि कांग्रेस के नाम से कोई भी काम न किया जाय। हमें नाम से नहीं, बल्कि काम से मतलब है। 'कथनी' नहीं, 'करनी' की आवश्यकता है। कांग्रेस का नाम यहां अप्रिय है। इस प्रदेश में कांग्रेस का अर्थ है, वकीलों की आपसी खींचातानी, कानूनी गलियों से सटक जाने की कोशिश। कांग्रेस का अर्थ है, बमगोला। कांग्रेस यानी कथनी एक, करनी दूसरी। यह धारणा सरकारी और सरकार की सरकार निलहे गोरों की थी। हमें यह सिद्ध करना था कि कांग्रेस ऐसी नहीं है, कांग्रेस तो दूसरी ही चीज़ है। इसलिए हमने कहीं भी कांग्रेस का नाम तक न लेने और लोगों को कांग्रेस की भौतिक देह का परिचय न कराने का निश्चय किया था। हमने यह सोच लिया था कि वे उसके अक्षर को न जानकर उसकी आत्मा को जानें और उसका अनुसरण करें तो बस है। यही असल चीज़ है। अतएव कांग्रेस की ओर से किन्हीं गुप्त या प्रकट दूतों द्वारा कोई भूमिका तैयार नहीं करायी गयी थी। राजकुमार शुक्ल में हजारों लोगों में प्रवेश करने की शक्ति नहीं थी। उनके बीच किसी ने आज तक राजनीति का काम किया ही नहीं था। चम्पारण के बाहर की दुनिया को वे जानते नहीं थे। फिर भी उनका और मेरा मिलाप पुराने मित्रों-जैसा लगा। अतएव यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं, बल्कि अक्षरशः सत्य है कि इस कारण मैंने वहां ईश्वर का, अहिंसा का और सत्य का साक्षात्कार किया। जब मैं इस साक्षात्कार के अपने अधिकार की जांच करता हूं, तो मुझे लोगों के प्रति अपने प्रेम

के सिवा और कुछ भी नहीं मिलता। इस प्रेम का अर्थ है, प्रेम अथवा अहिंसा के प्रति मेरी अविचल श्रद्धा।

चम्पारण का यह दिन मेरे जीवन में कभी न भूलने-जैसा था। मेरे लिए और किसानों के लिए यह एक उत्सव का दिन था। सरकारी कानून के अनुसार मुकदमा चलाया जानेवाला था। पर सच पूछा जाय तो मुकदमा सरकार के विरुद्ध था। कमिश्नर ने मेरे विरुद्ध जो जाल बिछाया था, उसमें उसने सरकार को ही फंसा दिया।

मुकदमा चला। सरकारी वकील, मजिस्ट्रेट आदि घबराए हुए थे। उन्हें सूझ नहीं पड़ रहा था कि किया क्या ज–। सरकारी वकील सुनवाई मुल्तवी रखने की मांग कर रहा था। मैं बीच में पड़ा और विनती की कि सुनवाई मुल्तवी रखने की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि मुझे चम्पारण छोड़ने की नोटिस का अनादर करने का अपराध स्वीकार करना है। यह कहकर मैं उस बहुत ही छोटे बयान को पढ़ गया, जो मैंने तैयार किया था। वह इस प्रकार था :

"जाब्ता फौजदारी की दफा 144 के अनुसार दी हुई आज्ञा का खुला अनादर करने का गंभीर कदम मुझे क्यों उठाना पड़ा, इस संबंध में मैं एक छोटा-सा बयान अदालत की अनुमति से देना चाहता हूं। मेरी नम्र सम्मति में यह प्रश्न अनादर का नहीं है, बल्कि स्थानीय सरकार और मेरे बीच मतभेद का प्रश्न है। मैं इस प्रदेश में जन-सेवा और देश-सेवा के ही उद्देश्य से आया हूं। निलहे गोरे रैयत के साथ न्याय का व्यवहार नहीं करते, इस कारण उनकी मदद के लिए आने का प्रबल आग्रह मुझसे किया गया। इसलिए मुझे आना पड़ा है। समूचे प्रश्न का अध्ययन किए बिना मैं उनकी मदद किस प्रकार कर सकता हूं? इसलिए मैं इस प्रश्न का अध्ययन करने आया हूं और संभव हो तो सरकार और निलहों की सहायता लेकर इसका अध्ययन करना चाहता हूं। मेरे सामने कोई दूसरा उद्देश्य नहीं है, और मैं यह नहीं मान सकता कि मेरे आने से लोगों की शांति भंग होगी और खून-खराबा होगा। मेरा दावा है कि इस विषय का मुझे अच्छा-खासा अनुभव है। पर सरकार का विचार इस संबंध में मुझसे भिन्न है। उसकी कठिनाई को मैं समझता हूं और मैं यह भी स्वीकार करता हूं कि उसे प्राप्त जानकारी पर ही विश्वास करना होता है। कानून

का आदर करने वाले एक प्रजाजन के नाते तो मुझे जो आज्ञा दी गई है उसे स्वीकार करने की स्वाभाविक इच्छा होनी चाहिए, और हुई थी। पर मुझे लगा कि वैसा करने में जिनके लिए मैं यहां आया हूं उनके प्रति रहे अपने कर्तव्य की मैं हत्या करूंगा। मुझे ऐसा लगता है कि आज मैं उनकी सेवा उनके बीच रहकर ही कर सकता हूं। इसलिए स्वेच्छा से चम्पारण छोड़ना मेरे लिए संभव नहीं है। इस धर्म-संकट के कारण मुझे चम्पारण से हटाने की जिम्मेदारी मैं सरकार पर डाले बिना रह न सका।

"मैं इस बात को अच्छी तरह समझता हूं कि हिन्दुस्तान के लोकजीवन में मुझ-जैसी प्रतिष्ठा रखने वाले आदमी को कोई कदम उठाकर उदाहरण प्रस्तुत करते समय बड़ी सावधानी रखनी चाहिए। पर मेरा दृढ़ विश्वास है कि आज जिस अटपटी परिस्थिति में हम पड़े हुए हैं उसमें मेरे–जैसी परिस्थितियों में फंसे हुए स्वाभिमानी मनुष्य के सामने इसके सिवा दूसरा कोई सुरक्षित और सम्मानयुक्त मार्ग नहीं है कि आज्ञा का अनादर करके उसके बदले में जो दंड प्राप्त हो, उसे चुपचाप सहन कर लिया जाय।

"आप मुझे जो सजा देना चाहते हैं, उसे कराने की भावना से मैं यह बयान नहीं दे रहा हूं। मुझे तो यही जता देना है कि आज्ञा का अनादर करने में मेरा उद्देश्य कानून द्वारा स्थापित सरकार का अपमान करना नहीं है, बल्कि मेरा हृदय जिस अधिक बड़े कानून को–अर्थात् अन्तरात्मा की आवाज को–स्वीकार करता है, उसका अनुसरण करना ही मेरा उद्देश्य है।

"अब मुकदमे की सुनाई को मुल्तवी रखने की जरूरत न रही थी, किन्तु चूंकि मजिस्ट्रेट और वकील ने इस परिणाम की आशा नहीं की थी, इसलिए सजा सुनाने के लिए अदालत ने केस मुलतवी रखा। मैंने वाइसराय को सारी स्थिति तार द्वारा सूचित कर दी थी। पटना भी तार भेजा था। भारतभूषण पंडित मालवीय जी आदि को भी वस्तुस्थिति की जानकारी तार से भेज दी थी। सजा सुनने के लिए कोर्ट में जाने का समय हुआ, उससे कुछ पहले मेरे नाम मजिस्ट्रेट का हुक्म आया कि गर्वनर साहब की आज्ञा से मुकदमा वापस ले लिया गया है। साथ ही कलेक्टर का पत्र मिला कि मुझे जो जांच करनी हो, मैं करूं और उसमें अधिकारियों

की ओर से जो मदद आवश्यक हो, सो मांग लूं। ऐसे तात्कालिक और शुभ परिणाम की आशा हममें से किसी ने नहीं रखी थी।

"मैं कलेक्टर मि० हेकांक से मिला। मुझे वह स्वयं भला और न्याय करने में तत्पर जान पड़ा। उसने कहा कि आपको जो कागज-पत्र या कुछ और देखना हो, सो आप मांग लें और मुझसे जब भी मिलना चाहें, मिल लिया करें।

"दूसरी ओर सारे हिन्दुस्तान को सत्याग्रह का अथवा कानून के सविनय भंग का पहला स्थानीय पदार्थ– पाठ मिला। अखबारों में इसकी खूब चर्चा हुई और चम्पारण को तथा मेरी जांच को अनपेक्षित रीति से प्रसिद्धि मिल गयी।

"अपनी जांच के लिए मुझे सरकार की ओर से तटस्थता की तो आवश्यकता थी, परंतु समाचारपत्रों की चर्चा की और उसके संवाददाताओं की आवश्यकता न थी। यही नहीं बल्कि उनकी आवश्यकता से अधिक टीकाओं से और जांच की लम्बी-चौड़ी रिपोर्टों को भेजने का खर्च न उठाएं, जितना छिपाने की जरूरत होगी उतना मैं स्वयं भेजता रहूंगा और उन्हें खबर देता रहूंगा।

"मैं यह समझता था कि चम्पारण के निलहे खूब चिढ़े हुए हैं। मैं यह भी समझता था कि अधिकारी भी मन में खुश न होंगे, अखबारों में सच्ची-झूठी खबरों के छपने से वे अधिक चिढ़ेंगे। उनकी चिढ़ का प्रभाव मुझ पर तो कुछ नहीं पड़ेगा, पर गरीब, डरपोक रैयत पर पड़े बिना न रहेगा। ऐसा होने से जो सच्ची स्थिति मैं जानना चाहता हूं उसमें बाधा पड़ेगी। निलहों की तरफ से विषैला आंदोलन शुरू हो चुका था। उनकी ओर से अखबारों में मेरे और साथियों के बारे में खूब झूठा प्रचार हुआ, किन्तु अत्यंत सावधान रहने से और बारीक-से-बारीक बातों में भी सत्य पर दृढ़ रहने की आदत के कारण उनके तीर व्यर्थ गए!

"निलहों ने ब्रजकिशोर बाबू की अनेक प्रकार से निंदा करने में जरा भी कसर नहीं रखी। पर ज्यों-ज्यों वे उनकी निंदा करते गए, त्यों-त्यों ब्रजकिशोर बाबू की प्रतिष्ठा बढ़ती गयी।

ऐसी नाजुक स्थिति में मैंने रिपोर्टरों को आने के लिए जरा भी प्रोत्साहित नहीं किया, न नेताओं को बुलाया। मालवीय जी ने मुझे कहला

भेजा था कि "जब जरूरत समझें, मुझे बुला लें। मैं आने को तैयार हूं।" उन्हें भी मैंने तकलीफ नहीं दी। मैंने इस लड़ाई को कभी राजनीतिक रूप धारण न करने दिया। जो कुछ होता था उसकी प्रासंगिक रिपोर्ट मैं मुख्य-मुख्य समाचारपत्रों को भेज दिया करता था। राजनीतिक काम करने के लिए भी जहां राजनीति की गुंजाइश न हो, वहां उसे राजनीतिक स्वरूप देने से पांडे को दोनों दीन से जाना पड़ता है, और इस प्रकार विषय का स्थानांतर न करने से दोनों सुधरते हैं। बहुत बार के अनुभव से मैंने यह सब देख लिया था। चम्पारण की लड़ाई यह सिद्ध कर रही थी कि शुद्ध लोकसेवा में प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष रीति से राजनीति मौजूद ही रहती है। चम्पारण जांच का विवरण देने का अर्थ है, चम्पारण के किसानों का इतिहास देना। ऐसा विवरण इन प्रकरणों में नहीं दिया जा सकता। फिर, चम्पारण की जांच का अर्थ है, अहिंसा और सत्य का एक बड़ा प्रयोग। इसके संबंध की जितनी बातें मुझे प्रति सप्ताह सूझती हैं उतनी देता रहता हूं। उसका विशेष विवरण तो पाठकों को बाबू राजेन्द्र प्रसाद द्वारा लिखित इस सत्याग्रह के इतिहास में और 'युगधर्म' प्रेस द्वारा प्रकाशित उसके (गुजरात) अनुवाद में ही मिल सकता है।

"अब मैं इस प्रकरण विषय पर आता हूं। यदि गोरख बाबू के घर रहकर ये जांच चलायी जाती, तो उन्हें अपना घर खाली करना पड़ता। मोतिहारी में अभी लोग इतने निर्भय नहीं हुए थे कि मांगने पर कोई तुरंत अपना मकान किराए पर दे दे। किन्तु चतुर ब्रजकिशोर बाबू ने एक लम्बे-चौड़े अहाते वाला मकान किराए पर लिया और हम उसमें रहने गए।

"स्थिति ऐसी नहीं थी कि हम बिलकुल बिना पैसे के अपना काम चला सकें। आज तक की प्रथा सार्वजनिक काम के लिए जनता से धन प्राप्त करने की नहीं थी। ब्रजकिशोर बाबू का मंडल मुख्यतः वकीलों का मंडल था। अतएव वे जरूरत पड़ने पर अपनी जेब से खर्च कर लेते थे और कुछ मित्रों से भी मांग लेते थे। उनकी भावना यह थी कि जो लोग स्वयं पैसे-टके से सुखी हों, वे लोगों से द्रव्य भिक्षा क्यों मांगें? मेरा यह दृढ़ निश्चय था कि चम्पारण की रैयत से एक कौड़ी भी न ली जाय। यदि ली जाती तो उसके गलत अर्थ लगाए जाते। यह भी निश्चय था कि जांच के लिए हिन्दुस्तान में सार्वजनिक चन्दा न किया जय। ऐसे

करने पर यह जांच राष्ट्रीय और राजनीतिक रूप धारण कर लेती। बम्बई से मित्रों ने 15 हजार रुपये की मदद का तार भेजा। उनकी यह मदद सधन्यवाद अस्वीकार की गई। निश्चय यह हुआ कि ब्रजकिशोर बाबू का मंडल चम्पारण के बाहर से, लेकिन बिहार के ही खुशहाल लोगों से जितनी मदद ले सके ले और कम पड़नेवाली रकम मैं डॉ० प्राण जीवन दास मेहता से प्राप्त कर लूं। डॉ० मेहता ने लिखा कि जितने रुपयों की जरूरत हो, मंगा लीजिए। अतएव द्रव्य के विषय में हम निश्चित हो गए। गरीबी से कम-से-कम खर्च करते हुए, लड़ाई चलानी थी, अतएव अधिक द्रव्य की आवश्यकता पड़ने की संभावना न थी। असल में पड़ी भी नहीं। मेरा ख़याल है कि कुल मिलाकर दो या तीन हजार से अधिक खर्च नहीं हुआ था। जो द्रव्य इकट्ठा किया गया था उसमें से पांच सौ या हजार रुपये बच गए थे, ऐसा मुझे याद है।

"शुरू-शुरू के दिनों में हमारी रहन-सहन विचित्र थी और मेरे लिए वह रोज के विनोद का विषय बन गयी थी। वकील-मंडली में हर एक का अपना रसोइया था और हर एक के लिए अलग-अलग रसोई बनती थी। वे रात बारह बजे तक भी भेजन करते थे, ये सब महाशय रहते तो अपने खर्च से ही थे, परन्तु मेरे लिए उनकी यह रहन-सहन उपाधि रूप थी। मेरे और मेरे साथियों के बीच इतनी मजबूत प्रेमगांठ बंध गई थी कि हममें कभी गलतफहमी हो ही नहीं सकती थी। वे मेरे शब्दबाणों को प्रेम-पूर्वक सहते थे। आखिर यह तय हुआ कि नौकरों को छुट्टी दे दी जाय। सब एक साथ भोजन करें और भोजन के नियमों का पालन करें। सब निरामिषाहारी नहीं थे और दो रसोईघर चलाने से खर्च बढ़ता था। अतएव निश्चय हुआ कि निरामिष भोजन ही बनाये जायें और एक ही रसोईघर रखा जाये। भोजन भी सादा रखने का आग्रह था। इससे खर्च में बहुत बचत हुई, काम करने की शक्ति बढ़ी और समय भी बचा।

अधिक शक्ति की बहुत आवश्यकता थी, क्योंकि किसानों के दल-के-दल अपनी कहानी लिखाने के लिए आने लगे थे। कहानी लिखनेवालों के साथ भीड़ तो रहती ही थी। इससे मकान का अहाता और बगीचा सहज ही भर जाता था। मुझे दर्शनार्थियों से सुरक्षित रखने के लिए साथी भारी प्रयत्न करते और विफल हो जाते। एक निश्चित समय पर मुझे

दर्शन देने के लिए बाहर निकले सिवा कोई चारा न रह जाता था। कहानी लिखनेवाले भी पांच-सात बराबर बने ही रहते थे तो भी दिन के अन्त में सबके बयान पूरे न हो पाते थे। इतने सारे बयानों की आवश्यकता नहीं थी, फिर भी बयान लेने से लोगों को संतोष होता था और मुझे उनकी भावना का पता चलता था।

कहानी लिखनेवालों को कुछ नियमों का पालन करना पड़ता था। जैसे, हर एक किसान से जिरह की जाय। जिरह में जो उखड़ जाय, उसका बयान न लिया जाय। जिसकी बात मूल में ही बेबुनियाद मालूम हो, उसके बयान न लिखे जाएं। इस तरह नियमों के पालन से यद्यपि थोड़ा अधिक समय खर्च होता था, फिर भी बयान बहुत सच्चे साबित हो सकने वाले मिलते थे।

इन बयानों के लेते समय खुफिया पुलिस का कोई-न-कोई अधिकारी हाजिर रहता ही था। इन अधिकारियों को आने से रोका जा सकता था। पर हमने शुरू से ही निश्चय कर लिया था कि उन्हें न सिर्फ हम आने से नहीं रोकेंगे, बल्कि उनके प्रति विनय का बरताव करेंगे और दे सकने योग्य खबरें भी उन्हें देते रहेंगे। उनके सुनते और देखते ही सारे बयान लिये जाते थे। इसका एक लाभ यह हुआ कि लोगों में अधिक निर्भयता आयी। खुफिया पुलिस से लोग बहुत डरते थे। ऐसा करने से वह डर चला गया और उनकी आंखों के सामने दिये जाने वाले बयानों में अतिशयोक्ति का डर कम रहता था। इस डर से कि झूठ बोलने पर अधिकारी कहीं उन्हें फांस न लें, उन्हें सावधानी से बोलना पड़ता था।

मैं निलहों को खिझाना नहीं चाहता था, बल्कि मुझे तो उन्हें विनय द्वारा जीतने का प्रयत्न करना था। इसलिए जिसके विरुद्ध विशेष शिकायतें आतीं, उसे मैं पत्र लिखता और उससे मिलने का प्रयत्न भी करता था। निलहों के मंडल से भी मैं मिला था और रैयत की शिकायतें उनके सामने रखकर मैंने उनकी बातें भी सुन ली थीं। उनमें कुछ मेरा तिरस्कार करते थे, कुछ उदासीन रहते थे और कोई-कोई मेरे साथ सभ्यता और नम्रता का व्यवहार करते थे।'

जैसा मैंने पहले कहा कि चम्पारण और गांधी की चर्चा के संदर्भ में प्रमाणित दस्तावेज राजेन्द्र बाबू की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'चम्पारण में महात्मा

गांधी' है। इस पुस्तक के हर पृष्ठ पर हमें तत्कालीन इतिहास की झलक मिलती है। बिना किसी आडंबर के, गांधीवादी सरलता और सच्चाई को अपने सामने रखकर साहित्य के आलंकारिक भाव-भाषा से अलग राजेन्द्र बाबू के वर्णन में सच्चाई तथा वास्तविकता है। 1917 के चम्पारण-सत्याग्रह में गांधी जी के साथ एक सिपाही अथवा सिपहसालार के रूप में शामिल थे तथा जिन दस्तावेजों की मैंने चर्चा की उसमें अधिकतर साक्षी के रूप में राजेन्द्र बाबू ने ही जुटाए थे या दर्ज किए थे। चम्पारण सत्याग्रह के दो-तीन वर्षों बाद राजेन्द्र बाबू ने अपनी यह पुस्तक 'चम्पारण में महात्मा गांधी' लिखी, जिसकी चर्चा अपनी आत्मकथा में करते हुए गांधी जी ने लिखा है– "चम्पारण की जांच का विवरण देने का अर्थ है, चम्पारण के किसानों का इतिहास देना। ऐसा विवरण इन प्रकरणों में नहीं दिया जा सकता। फिर, चम्पारण की जांच का अर्थ है, अहिंसा और सत्य का एक बड़ा प्रयोग। इसके संबंध की जितनी बातें मुझे प्रति सप्ताह सूझती हैं उतनी देता रहता हूं। उसका विशेष विवरण तो पाठकों को बाबू राजेन्द्र प्रसाद द्वारा लिखित इस सत्याग्रह के इतिहास में और 'युगधर्म' प्रेस द्वारा उसके (गुजराती) अनुवाद में ही मिल सकता है।"

इस परिप्रेक्ष्य में अब राजेन्द्र बाबू की पुस्तक देखें जिसकी भूमिका में राजेन्द्र बाबू ने स्पष्ट किया है— 'यह पुस्तक सन् 1918 और 1919 ई० की दुर्गापूजा की छुट्टियों में लिखी गई थी, पर कई कारणों से आज तक पाठकों की सेवा में उपस्थित नहीं की जा सकी। इस पुस्तक को पढ़ने से पाठकों को विदित हो जायगा कि सत्याग्रह और असहयोग के सम्बन्ध में जो कुछ महात्मा गांधी ने सन् 1920 से 1922 ई० तक किया, उसका आभास चम्पारण के झगड़े में ही मिल चुका था– दक्षिण अफ्रिका से लौटकर महात्मा गांधी ने महत्त्व का जो पहला काम किया था, वह चम्पारण में ही किया था। उस समय भारतवर्ष में 'होमरूल' का बड़ा शोर था। जब हम महात्मा गांधी से कहते थे कि वे उस आंदोलन में चम्पारण को भी लगा दें, तब वे यह कहा करते थे कि जो काम चम्पारण में हो रहा है, वही 'होमरूल' स्थापित कर सकेगा। उस समय देश शायद ही उस कार्य के महत्त्व को समझता रहा हो, और न हम ही ऐसा समझते थे पर आज जब कि उस समय की कार्यशैली पर विचार करते हैं और

गत तीन-चार वर्षों के राष्ट्रीय इतिहास की ओर ध्यान देते हैं, तब जान पड़ता है कि यह महान आंदोलन जो आज जारी है, चम्पारण की घटना का ही एक अत्यंत विस्तृत और विराट् रूप है। यदि चम्पारण और खेड़ा के इतिहास इकट्ठे कर लिये जायें, जो कुछ असहयोग अथवा सत्याग्रह अथवा सत्याग्रह-आंदोलन ने किया है अथवा करने की इच्छा रखकर भी अभी तक नहीं कर पाया है, वे सब बातें उनमें वर्तमान पायी जाएंगी। जिस प्रकार भारतवर्ष को अन्याय और दुराचार के भार से दबता हुआ देखकर महात्मा जी ने असहयोग-आंदोलन आरंभ किया, उसी प्रकार चम्पारण की प्रजा को भी अन्याय और अत्याचार के बोझ से दबती हुई पाकर और उसका उद्धार करना अपना कर्तव्य समझकर उन्होंने वहां भी पदार्पण किया था। जिस प्रकार भारतवर्ष सभाओं और समाचारपत्रों और कौंसिल में प्रस्तावों तथा प्रश्नों के द्वारा आंदोलन कर कुछ सफलता प्राप्त न करने पर ही सत्याग्रह और असहयोग आरंभ किया, उसी प्रकार चम्पारण में भी यह सब कुछ करके थक जाने पर ही वहां की जनता ने महात्मा गांधी को निमंत्रित किया था। जिस प्रकार वर्तमान आंदोलन में महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा को अपना अनन्य सिद्धांत रखकर देश को उसे स्वीकार करने की शिक्षा दी है, उसी प्रकार उस समय भी दरिद्र, अशिक्षित और भोली-भाली चम्पारण की प्रजा को व्याख्यानों के द्वारा शिक्षा दी थी। और तो क्या, जिस प्रकार आज अपने ऊपर कष्ट उठाकर, जान-बूझकर अपने को मुसीबत में डालकर देश का उद्धार करने का मनसूबा महात्मा जी ने देश-भर के लोगों में पैदा कर दिया है, उसी प्रकार स्वयं जेल के लिए तैयार होकर और सब प्रकार के कष्टों को भुगतने को प्रस्तुत होकर उन्होंने वहां की प्रजा को भी वही सिद्धांत सिखाया। जिस प्रकार वहां सरकारी अफसरों ने महात्मा जी के उद्देश्य को और प्रजा के कष्टों को और उनके साथ किए गए अन्यायों को जानकर भी पहले महात्मा जी को रोकना चाहा था और जेल भेजने तक का भी प्रबंध किया था, उसी प्रकार इस महान् आंदोलन में भी उन्होंने वही किया है। महात्मा जी के चम्पारण जाने के पूर्व भी वहां की प्रजा ने समय-समय पर घोर आंदोलन किया था, कभी-कभी असहयोग करने की भी चेष्टा की थी, पर उस आंदोलन और असहयोग की नींव अहिंसा पर भी नहीं थी।

और, सरकार या निलवर, जिसका विश्वास आज तक हिंसा में अटल बना हुआ है और जिसके पास उसके लिए सामग्री भी पूरी प्रस्तुत है, उसको हिंसात्मक आंदोलन में बराबर दबाते और पराजित करते गए। इस आन्दोलन में भी जहां हम इस मौलिक सिद्धांत से विचलित हुए हैं, वहां अपनी हार की सामग्री स्वयं जुटाते गए हैं। यदि हम उसी सिद्धांत को सामने रखकर इस आंदोलन को बढ़ाते जायेंगे, तो इसमें संदेह नहीं कि जिस प्रकार चम्पारण में सफलता प्राप्त हुई थी और जैसा आज पंजाब के अकाली भारतवर्ष के सामने एक नमूना रख रहे हैं, और अपनी कार्यसिद्धि में सफलता प्राप्त करते भी दीख रहे हैं, उसी प्रकार इस व्यापक आंदोलन में भी सफलता अवश्यंभावी है। चम्पारण में जिस प्रकार सरकार ने स्वयं उन बातों को स्वीकार कर लिया, जिनको कि वहां की प्रजा प्रायः साठ वर्षों से रो-रोकर और कभी-कभी झगड़-झगड़कर जताना चाहती थी उसी प्रकार इसमें भी अन्त में सरकार और सरकारी अफसर जो कुछ भारतवर्ष चाह रहा है, उसे स्वीकार करेंगे। जिस समय यह पुस्तक लिखी गई थी, उस समय और आज में बहुत अंतर है, और यदि आज यह पुस्तक लिखी जाती, तो संभवतः इसका रूप कुछ दूसरा ही होता , पर मैंने यह समझा कि यदि यह जैसी लिखी गई थी, उसी प्रकार पाठकों की सेवा में उपस्थित की जाय, तो आज के आंदोलन के बीजमंत्र को वह देख सकेंगे और उस समय जो एक बीज मात्र था, उसको लहलहाते पेड़ के रूप में आज पायेंगे।''

चम्पारण में गांधी जी की चर्चा का मुख्य स्रोत किसी के लिए भी यह पुस्तक ही होगी। मैंने भी इससे भरपूर मदद ली, क्योंकि बिना इसके या तो कथ्य अधूरा रहता अथवा सच्चाई और यथार्थ से दूर चला जाता। विशेषकर नील का सट्टा, शरहवेशी का इकरारनामा, सरकार द्वारा गठित चम्पारण एग्रेरियन इंक्वारी कमेटी के प्रस्ताव, चम्पारण एग्रेरियन बिल 1917, गांधी जी के चम्पारण-सत्याग्रह संबंधी पत्रों के विवरण तथा चम्पारण-सत्याग्रह के प्रमुख नेताओं के समक्ष बयान देने वाले ग्रामीणों की नामावली आदि ऐसी बातें तथा तथ्य हैं जिनका संकलन राजेन्द्र बाबू की पुस्तक से ही किया जा सकता है।

यहां राजेन्द्र बाबू का कुछ विशेष सहारा मैं ले रहा हूं, क्योंकि चम्पारण

और महात्मा गांधी के बिन्दु का विस्तार उनकी दृष्टि से ही संभव है। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जी की एक पुस्तक है 'गांधी जी की देन', जो उनके गांधी जी के सम्बन्ध में विभिन्न अवसरों पर दिए गए भाषणों का संग्रह है। उससे यहां मैं तीन उदाहरण देना समीचीन समझता हूं। 'गांधी जी की महानता' लेख का यह अंश देखें– "जब गांधी जी हिन्दुस्तान से अफ्रिका के लिए जहाज पर रवाना हुए तो दक्षिण अफ्रिका के यूरोपियनों में बड़ी खलबली मची। वे गांधी जी को न आने देने पर तुल गए और आने पर मार डालने की धमकी देने लगे। इसी बीच महात्मा जी का जहाज बंदरगाह में आ पहुंचा। पहले ही से गांधी जी को न उतरने देने के लिए और उतरने पर मारने-पीटने के लिए लोगों की भीड़ इकट्ठी थी। वहां की सरकार तो गांधी जी को बचाना चाहती थी, पर वह बिगड़े हुए लोगों के सामने लाचार थी। बात यह है कि वहां की सरकार तो वहीं के यूरोपियनों की अपनी सरकार थी। इसलिए अगर प्रजा ही बिगड़ी हो तो सरकार उनकी ख्वाहिश के खिलाफ उन्हें कैसे दबाकर कोई काम कर सकती थी ? इसलिए जहाज पर ही वहां की सरकार की पुलिस का कोई अफसर गांधी जी से मिलने आया और गांधी जी को जहाज पर से न उतरने की सलाह दी। उसने कहा, "लोग बेतरह बिगड़े हुए हैं और उतरने पर आपकी जान को खतरा है। मैं तो पुलिस का भरसक इन्तजाम कर रहा हूं, किन्तु मुझे भय है कि मैं शायद ही आपकी हिफाजत कर पाऊं। इसलिए मेरी तो सलाह यह है कि चार-पांच दिन के बाद जब यह जहाज वापस जायगा तो आप तब तक ठहरकर इसी पर लौट जाएं।" किन्तु अब तक तो महात्मा जी का निश्चय और भी पक्का हो चुका था। उन्होंने कहा, "मैं तो उतरूंगा ही। क्या होगा, वे ज्यादा-से ज्यादा मुझे मार डालेंगे ? मैं उसके लिए भी तैयार हूं। मुझे आपकी मदद की भी कोई आवश्यकता नहीं है। मैं अकेला ही उतरूंगा और जरूर उतरूंगा।" वहां की सरकार कानूनी ढंग से उन्हें अपने देश में आने से रोक नहीं सकती थी इसलिए गांधी जी का उतरना ही तय रहा। गांधी जी ने मन में सोचा कि मैं इनसे क्यों डरूं ? और कोई इनसे कब तक डरे ? डरने से तो काम चलेगा नहीं। इसलिए इनसे निर्भय हो जाना ही ठीक है। अधिक-से-अधिक जान चली जायगी पर निडर होकर ही दूसरों को भी निडर किया

जा सकता है। महात्मा जी उतर पड़े। नतीजा वही हुआ, जिसकी उम्मीद थी। पुलिस उनकी रक्षा न कर सकी। उन पर खूब मार पड़ी और उन्हें बेहोश करके उपद्रवी छोड़कर चलते बने। पुलिस ने उन्हें उठाकर दवा आदि की व्यवस्था की। स्वस्थ होने पर पुलिसवाले उन्हें मुकदमा चलाने को कहने लगे। उन्होंने कहा कि अगर वे उपद्रवियों पर मुकदमा चलाएं तो पुलिस उन्हें काफी मदद देगी। किन्तु गांधी जी ने कहा कि मैं तो अपने को उनका मित्र समझता हूं। वे अगर मुझे अपना दुश्मन समझें तो मेरा इसमें क्या चारा ? मै तो उन पर किसी तरह का मुकदमा नहीं चलाना चाहता। समय आने पर जब वे मुझे निर्दोष समझ लेंगे तो खुद अपनी गलती पर पछतावा होगा। उस दिन से महात्मा जी ने कभी किसी का कुछ भय नहीं किया और दूसरों के भय को भी दूर करते रहे।

इस उदाहरण से आप देखेंगे कि गांधी जी ने हम लोगों को किस तरह भय-मुक्त किया।

आपने चम्पारण-सत्याग्रह का नाम सुना होगा। चम्पारण आज जितना खुशहाल और हरा-भरा है, उतना इस शताब्दी के शुरू में नहीं था। वहां की धरती आज की-सी उपजाऊ थी, मगर उन दिनों वहां निलहे अंग्रेजों की कोठियां बहुत थीं। उनके अत्याचारों से सारे किसान अत्यन्त पीड़ित थे। उन्हें अंग्रेजों के लिए मुफ्त में खटना ही नहीं पड़ता था, बल्कि हल, बैल और बीज से निलहों की बेगारी करनी पड़ती थी। 'तीनकठिये' की प्रथा का नाम आपने सुना होगा। उसके कारण उन किसानों की कमर टूट रही थी। एक बार जब गांधी जी लखनऊ आये हुए थे तो उनका ध्यान चम्पारण की ओर आकृष्ट करने का श्रेय श्री राजकुमार शुक्ल और श्री ब्रजकिशोर बाबू को है। ब्रजकिशोर बाबू एक वकील थे, उनको साथ लेकर शुक्ल जी महात्मा जी से मिलने गये। उन्होंने चम्पारण का किस्सा कह सुनाया। पहले तो गांधी जी ने उन्हें एक वकील ही समझा और शुक्ल जी को उनका मुवक्किल, किन्तु पीछे उन्हें मालूम हुआ कि ब्रजकिशोर बाबू हम लोगों में सबसे आगे बढ़े हुए उत्साही जीव थे।

गांधी जी जब मुजफ्फरपुर आए तो उन्हें उन दिनों अधिक लोग नहीं जानते थे। फिर भी उनके दर्शन और स्वागत के लिए सैकड़ों आदमी रेल-किराया देकर मोतिहारी से आये। गांधी जी अपने काम के संबंध में कुछ लोगों से मिले, किन्तु इसके बाद ही जब वह मोतिहारी गए तो

स्टेशन पर उनके स्वागत के लिए चार-पांच सौ की भीड़ इकट्ठी थी। वहां के कलेक्टर का हुक्म निकला कि गांधी जी का मोतिहारी जिले में ठहरना जुर्म समझा जायगा। वह 24 घंटे के भीतर पहली गाड़ी से बाहर चले जाएं। ऐसा तो अब तक किसी के बारे में नहीं हुआ था। किसी के किसी जिले में आने-जाने पर रोक नहीं लगाई गई थी।

गांधी जी ने सरकार के इस हुक्म को मानने से इनकार कर दिया। उन पर मुकदमा चला। चारों ओर तहलका मच गया। जब मजिस्ट्रेट के सामने गांधी जी लाए गए तो सरकारी वकील ने समझा कि वह बैरिस्टर हैं। कानूनी किताबों का बोझ गाड़ी पर लदवाकर लाएंगे। खूब बहस होगी। इसलिए काफी तैयारी थी, किन्तु गांधी जी को तो कुछ और ही करना था। जिस समय गांधी जी लाए गए तो सैकड़ों आदमी जमा हो रहे थे। मजिस्ट्रेट ने सारी खिड़कियां बंद कर मुकदमा शुरू किया। इधर लोग इतने बेताब हो रहे थे कि उन्होंने खिड़कियों के शीशे आदि फोड़ डाले। गांधी जी ने उन्हें बाहर आकर समझा दिया। वे शांत हुए। फिर महात्मा जी ने एक बयान दिया। उस बयान में उन्होंने कहा, "मैं यहां दुखी और पीड़ित भाइयों की तकलीफों का पता लगाने आया हूं। इसमें मेरा मतलब उनकी शिकायतों की जांच करके उनकी सेवा करना और दुख दूर करना ही है। सरकार अपने हुक्म से मुझे यहां से निकालकर यह काम करने से रोकना चाहती है, किन्तु मैं उनकी तकलीफ दूर करना चाहता हूं। इसलिए सरकारी हुक्म तोड़ने का दोष मैं अपने माथे न लेकर सरकार ही के माथे देता हूं; क्योंकि मैं ऐसा करने के लिए लाचार किया जाता हूं।" मजिस्ट्रेट ने पूछा कि तब तो आप अपना कसूर मानते हैं? महात्मा जी ने कहा कि अगर तुम इसी को कसूर कहते हो तो मैं अपना क़सूर मान लेता हूं। मजिस्ट्रेट पर सौ घड़ा पानी पड़ गया। अब वह क्या करे? उसने तो सोचा था कि जिरह-बहस आदि में कुछ दिन लगेंगे, तब तक मैं कलेक्टर आदि से मिलकर कुछ तय कर लूंगा कि इस मुकदमे में क्या किया जाय? किन्तु गांधी जी ने तो उसकी जड़ ही काट दी। कसूर मान लेने पर तो सिर्फ सजा सुनानी रह जाती है। वह सजा सुनाए तो क्या? जो हो, मजिस्ट्रेट ने कुछ दिनों के लिए सजा सुनाना मुल्तवी रखा।

इसी सिलसिले में आपको बतलाऊंगा कि उन्होंने हम लोगों को निर्भय

कैसे किया ? दूसरे लोगों के समान हम लोगों को भी भय था कि कहीं गांधी जी को सजा न हो जाय । इसी बीच एक छोटी-सी घटना हुई । दीनबंधु एंड्रूज साहब का नाम आपने सुना होगा । वह अंग्रेज थे और पहले क्रिश्चियन पादरी थे, पर गांधी जी के विचारों से वह इतने प्रभावित हो चुके थे कि उनके भक्त हो गये थे । वह अकसर गांधी जी से मिला करते थे । एक बार गांधी जी ने उन्हें फिजी द्वीप जाकर वहां के प्रवासी हिन्दुस्तानियों की तकलीफ दूर करने की सलाह और आदेश दिया । फिजी एक द्वीप है, जिसको हमारे ही हिन्दुस्तानी भाइयों ने आबाद किया है। हां, उनकी हालत बड़ी दर्दनाक और शोचनीय है । जहां अन्य देशों में अंग्रेजी राज्य है और जहां हिन्दुस्तानी बस गए हैं, वहां भी हिन्दुस्तानियों को तकलीफ है । जिन दिनों सजा सुनाना मुल्तवी था, उन्हीं दिनों फिजी के लिए प्रस्थान करने के दो-तीन दिन पहले एंड्रूज साहब हम लोगों के पास पहुंच गए । हम लोग उनको रोक रखना चाहते थे, क्योंकि इस हालत में और आगे भी हम लोगों को उनसे बहुत उम्मीद थी । किन्तु एंड्रूज साहब भी आखिर गांधी जी ही के विचार के थे न! उन्होंने गांधी जी के हुक्म के बिना उन्हीं के आदेश से बने हुए पहले प्रोग्राम को तोड़ना पसंद नहीं किया । बहुत मनाने पर भी उन्होंने कहा कि यदि गांधी जी रुक जाने को कहेंगे तो वह रुक सकते हैं । हम लोगों के ब्रजकिशोर बाबू अगुआ थे । हम लोगों ने एंड्रूज साहब को रोक रखने के लिए गांधी जी से अनुरोध किया, किन्तु हम जितना ही जोर देते गए, उतना ही वह कड़े पड़ते गए । उन्होंने कहा कि बने हुए प्रोग्राम को तोड़ना ठीक नहीं, लेकिन जब हम लोगों ने बहुत जोर लगाया तो वह खुलकर बातें करने लगे । उन्होंने कहा, "मैं समझ गया तुम लोगों के मन में डर घुसा हुआ था । इसीलिए तुम लोग मेरी मदद के लिए एंड्रूज साहब को रोक रखना चाहते हो । एक अंग्रेज रहेगा तो तुम उसकी ओट से काम करोगे कि अंग्रेज सरकार होने की वजह से कुछ तो मुरौवत मिलेगी ही । इसके अलावा निलहे भी अंग्रेज हैं । उनसे मिलने में भी तुम लोग एंड्रूज साहब की ओट लोगे । मैं समझ गया । अब तो मैं एंड्रूज को जरूर ही फिज़ी भेजूंगा । अंग्रेजों का डर तुम लोगों को अपने मन से जल्द ही निकाल देना होगा ।

उन्होंने एंड्रूज साहब को फिजी चले जाने का फैसला सुना दिया और कहा कि उन्हें जाना ही होगा। कुछ ही समय के बाद दीनबंधु खबर लेकर आए कि गांधी जी के ऊपर से मुकदमा उठा लिया गया है। मुकदमा तो उठ गया, किन्तु हम लोगों को गांधी जी ने जो पाठ दिया, उसने हमें निर्भय कर दिया।

हम लोगों को ही नहीं, उन्होंने किसानों को भी तरह-तरह से निर्भय बनाया। हम लोग कई वकील गांधी जी के साथ घूमते और काम करते थे। झुंड बांध-बांधकर किसान आते और अपना-अपना हाल सुनाते। हम लोग खूब जिरह करते और सच्ची बातें लिखते। किसान भी सच्ची ही बातें लिखते थे।

गांधी जी का काम सदा से नियमानुसार हुआ करता था। इसलिए वह जितना काम कर लेते, उतना बहुत कम लोगों से बन पड़ता। उन दिनों भी वह खूब कार्य-व्यस्त रहते। हालांकि हम लोग काम में बहुत घिरे हुए थे और गांधी जी के बिना भी सब काम कर लेने की उम्मीद रखते थे तो भी हम लोग न तो उनकी बराबरी कर सकते थे और न कर सकते हैं। धरणीधर बाबू एक वकील हैं। वह भी हम लोगों के साथ कुछ किसानों को एक कोने में ले जाकर उनका बयान लिख रहे थे। उन्हीं के पास सरकारी हुक्म से पुलिस-दारोगा बैठे थे। धरणीधर बाबू को यह बहुत अखर रहा था। उन्होंने वहां से उठकर दूसरी जगह बयान लिखना शुरू किया। दारोगा वहां भी आ पहुंचे। वकील साहब ने तीसरी जगह बदली, वहां भी दारोगा साहब मौजूद। धरणीबाबू से रहा न गया। उन्होंने दारोगा साहब को झिड़क दिया कि वह क्यों इस तरह उनको पिछुआये चलते हैं? दारोगा साहब ने गांधी जी से इसकी शिकायत की। गांधी जी ने धरणीबाबू से पूछा कि वहां आपके साथ दारोगा जी ही जा बैठते थे कि और भी कोई? वकील साहब ने कहा कि क्यों, किसान भी बैठते थे। तब गांधी जी ने कहा—"जब उतने किसानों के बैठने से आपको कोई हर्ज नहीं होता है तो सिर्फ एक और आदमी के मिल जाने पर आप क्यों घबराते हैं? आप दोनों में भेद ही क्यों करते हैं? ओह, जान पड़ता है, आप दारोगा जी से डरते हैं। उस बिचारे को भी किसानों के साथ क्यों नहीं बैठने देते?" यह विनोद सुनकर

किसान तो निर्भीक हो ही गए, दारोगा जी को काटो तो खून नहीं। लाज से गड़ गये। गांधी जी ने उन्हें मामूली किसानों के बीच गिन दिया। उस दिन से वकील साहब तो निर्भय हो गए, किसान भी बिलकुल निडर होकर निलहों के सामने उनके अत्याचारों का बयान करने लगे

गांधी जी के मत में भय के लिए जगह ही कैसे हो सकती है ? वहां तो कुछ छिपाकर कहने या करने का बिलकुल काम सही नहीं। वहां तो मन, वचन और कर्म की एकता है। बेचारे खुफिया पुलिसवाले वहां से किस भेद का पता लगाएंगे ? गांधी जी के विचारों के अनुसार जो भी कुछ करते या करना चाहते उनमें किसी तरह के छिपाव की प्रवृत्ति न होनी चाहिए। इसलिए हम लोगों के सामने खुफिया पुलिस का भय खत्म हो गया।

किन्तु महात्मा जी, कहां तक सब बातों को प्रकाशित करते रहना चाहिए, इसकी भी सीमा रखते हैं, क्योंकि वह तो समन्वय करके चलते हैं। एक उदाहरण से हम लोग समझ जायेंगे कि वह खोलकर कहने या न कहने में कैसा सुन्दर समन्वय रखते हैं। जिन दिनों हम लोग चम्पारण में व्यस्त थे और एक धर्मशाला में डेरा डाले हुए थे, उन्हीं दिनों एक रात हम लोग खुली छत पर अगले दिन की दिनचर्या पर बैठकर विचार कर रहे थे। एक साथ बैठकर ऐसा रोज ही कर लिया करते थे। एक सज्जन, जिनके नाम और कृतियों से सब लोग परिचित थे और जिन्होंने हिन्दुस्तान और इस प्रान्त में जागृति लाने में काफी हाथ बंटाया था, एक रात वहां सहसा आ पहुंचे, और जिस समय हम लोग विचार कर रहे थे उसी समय मिलना चाहा। लोगों ने हम सबसे पूछकर कहा कि इस समय गांधी जी और लोगों के साथ कुछ मंत्रणा कर रहे हैं। वह जरा तैश में आ गये और उन्होंने कहा कि मैं भी देश का एक सेवक हूं। भला वह कौन-सी बात हो सकती है जो मंत्रणा करते समय मुझसे गुप्त रखी जाय ? गांधी जी ने यह सुना तब उन्हें बुला लिया और उनसे पूछा, "सुना है, आपको रंज हुआ ?" उन्होंने कहा, "क्यों नहीं होता ?" गांधी ने उत्तर दिया, "अच्छा, आप इस समय लोगों के पास बैठकर हमारी क्या मदद कर सकते हैं ? आपको क्या मालूम था कि हम लोग किस विषय पर विचार कर रहे हैं ? आप यहां आकर हमारे किस काम के

होते ? फिर आप आते ही क्यों ? इसमें आपने बिना समझे ही क्रोध किया है। आपको हम लोगों के साथ काम करना मना नहीं है। आप खुशी से हम लोगों के साथ रहें, हमारी बातें समझें, काम करें, तब राय दें।" उन्होंने अपनी गलती समझ ली और इस तरह गांधी जी ने किसी बात को बिना प्रयोजन असंबंधित व्यक्ति के सामने प्रकट करने की एक सीमा लगा दी। वास्तव में कितना सुंदर समन्वय है !'

इसी प्रकार 'गांधी जी के सिद्धांत' शीर्षक लेख का यह प्रसंग चम्पारण पर प्रकाश डालता है– "अफ्रिका से हिन्दुस्तान आने पर 1915 ई० से जब गांधी जी ने जन्मभूमि की ओर अपनी दृष्टि फेरी तो पहले श्री गोखले ने उनसे वचन ले लिया कि जब तक हिन्दुस्तान की हालत घूम-घूमकर अच्छी तरह समझ न लो, तब तक अफ्रिका में किए अपने प्रयोगों को यहां कहीं भी शुरू करने की जल्दबाजी न करो। गांधी जी ने उनकी शर्त मान ली। इसलिए उसका पूरा-पूरा पालन करते हुए सन् 1915-16 में वह देश के भिन्न-भिन्न भागों में घूमते रहे और स्थिति का पता चुपचाप लगाते रहे। उनका यह भ्रमण एक तरह का अज्ञात भ्रमण था, हालांकि जो लोग जहां-जहां जानते थे, कुछ-न-कुछ स्वागत जरूर करते थे। गोखले को दिए वचन का पूरा-पूरा पालन करते हुए गांधी जी किसी आश्रम की आवश्यकता महसूस करने लगे, जहां रहकर वह अपने विचारों पर अमल करने की कोशिश करते। सन् 1916 के अंत में आश्रम का निश्चय हो गया। यह साल कांग्रेस के इतिहास में बहुत प्रसिद्ध है, क्योंकि इसी साल दिसम्बर के महीने में लखनऊ-कांग्रेस हुई थी। कांग्रेस में नरम दल और गरम दल मिलकर एक हो गए। सन् 1907 में इन दो दलों के रूप में कांग्रेस का जो अंग-भंग हुआ था, उसके लखनऊ-कांग्रेस में एक हो जाने के कारण इस अधिवेशन में लोगों की उपस्थिति बहुत ज्यादा थी। बहुत ज्यादा थी का मतलब आजकल के अर्थों में न करें। आजकल तो चार-पांच हजार की भीड़ मामूली सभाओं में भी हो जाया करती है, किन्तु उन दिनों साधारण सभाओं में चार-पांच सौ की भीड़ काफी समझी जाती थी। कांग्रेस में दस-पांच सौ की उपस्थिति ही बहुत ज्यादा थी। हम बता चुके हैं कि श्री राजकुमार शुक्ल और श्री ब्रजकिशोर बाबू ने चम्पारण की तकलीफें गांधी जी को वहीं सुनाई थीं, किन्तु गांधी जी तो

फूंक-फूंककर कदम रखते थे। उन्हें तो सत्य के बिना एक कदम आगे बढ़ना नहीं था। उन्होंने कहा कि मैं स्वयं चम्पारण जाकर सारी स्थिति समझे बिना ये बातें सच नहीं मान सकता हूं। आश्रम खोलने की तारीख भी तय हो चुकी थी। गांधी जी ने सोचा था कि चम्पारण की स्थिति को पांच-छः दिनों में समझकर ठीक तारीख पर चला जाऊंगा, किन्तु जब वह चम्पारण आये तो उन्होंने यहां की स्थिति देखकर यहीं ठहर जाना ठीक समझा। नियत तिथि को तार दे दिया गया कि आश्रम खोल दो। लोगों ने उनकी अनुपस्थिति में ही आश्रम खोल दिया। फिर उन पर चम्पारण में किस तरह मुकदमा चला, यह हाल आप सुन चुके हैं। उस समय हिन्दुस्तान के वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड थे। वह गांधी जी की कद्र करते थे। उन्हीं के हुक्म से गांधी जी पर से मुकदमा उठा लिया गया।

उस समय गांधी जी का पहले ही से अंग्रेजों के प्रति और अंग्रेजों का गांधी जी के प्रति परस्पर विश्वास था और वे एक-दूसरे को मित्र की नजर से देखा करते थे। गांधी जी की लड़ाई में यही तो खूबी है कि वह जिसके खिलाफ लड़ी जाती है, उसके हार जाने या आर्थिक नुकसान उठाने पर भी वह उनका मित्र बना रहता है।

जब बिहार के उस समय के लाट सर एडवर्ड गेट से चम्पारण के संबंध में गांधी जी का मिलना तय हुआ तो हम लोगों को कुछ आशंका हुई कि कहीं गांधी जी गिरफ्तार न कर लिये जायं और हम लोगों का काम पड़ा न रह जाय। इसलिए गांधीजी ने हम लोगों से कह दिया था कि अगर मैं गिरफ्तार भी कर लिया जाऊं तो अमुक तरह से काम करना। उन दिनों छोटे लाट रांची में रहते थे। ब्रजकिशोर बाबू के साथ गांधी जी रांची गए, पर वहां पहुंचकर 10 बजे लेफ्टिनेंट गवर्नर से अकेले मिलने गए। ब्रजकिशोर बाबू डेरे पर ही रहे। वहां वह और यहां हम लोग यही समझ रहे थे कि गवर्नर से बातचीत बहुत-से-बहुत एक-डेढ़ घंटे होगी, पर वहां तो पांच-छः घंटे तक बातचीत होती रही। इधर हम लोगों ने सोचा था कि अगर बातचीत तय हो जायगी तो तार से शीघ्र ही खबर पा जायंगे, किन्तु दिनभर और रातभर इन्तजार करते रहे, कोई तार नहीं मिला। हम लोग सोचते थे कि कहीं गिरफ्तार तो नहीं कर लिये गए।

दूसरे दिन तार आया कि कल बहुत-सी बातें हुईं और आज फिर होंगी। गांधी जी ने अपने तर्कों से गर्वनर को यह समझा दिया कि चम्पारण का मसला जांच करने लायक है। गर्वनर ने जांच-कमेटी बनाकर उसमें गांधी जी को भी रहने को कहा। पहले तो गांधी जी उसमें नहीं रहना चाहते थे, मगर जब गवर्नर ने कहा कि आप कमेटी में रहेंगे तभी हम आपको दिखा सकेंगे कि 100 वर्षों से गवर्नमेंट के अफसरों ने हिन्दुस्तानी भाइयों के साथ कैसा बर्ताव किया है। यदि आप जांच-कमेटी में नहीं रहेंगे तो रिपोर्ट आपको नहीं दिखाई जा सकेगी। इसलिए आपका भी रहना जरूरी है। गांधी जी रह गए। फिर जांच शुरू हुई, किन्तु हम सभी लोगों से गांधी जी ने वचन ले लिया था कि तुम लोगों में से कोई भी जांच की हुई बातों के विषय में न तो कोई भाषण देगा, न कुछ समाचार-पत्रों में लिखेगा। उसके संबंध में बोलने का अधिकार गांधी जी को ही था। इसके यह मानी नहीं कि हम लोग किसानों से भी कुछ नहीं बोलते थे। उनसे बातचीत और जिरह तो खूब करते थे। मगर निलहों के अत्याचार के विषय में कोई भाषण नहीं देते थे। जांच खतम होने पर कमेटी ने सरकार को रिपोर्ट दी। गवर्नमेंट ने उसके अनुसार कानून बना दिया जिसके कारण आज वे कोठियां उजड़ गईं। किन्तु सब कुछ होने पर भी कुछ निलहे गांधी जी के मित्र बने रहे।

गांधी जी शुरू से हिन्दुस्तान में अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति के विरोध में थे। उन्होंने चम्पारण में राष्ट्रीय शिक्षा के कुछ केन्द्र खोलने चाहे। कुछ खोले भी गये, जिनमें गुजरात और महाराष्ट्र से शिक्षक और शिक्षिकाएं आकर कुछ वर्षों तक काम करते रहे। उन स्कूलों को चलाने के लिए गांधी जी ने कई निलहे साहबों से भी मदद पायी। इस तरह गांधी जी की जीत में हम सत्य की ही जीत देखते हैं, और वह जीत ऐसी है कि निलहे घाटा उठाकर भी गांधी जी के मित्र बन गए। इन कार्यों में गांधी जी का कांग्रेस से कोई संबंध न रहा।'

तीसरा उल्लेखनीय कथ्य जो उद्धरित कर रहा हूं, वह है राजेन्द्र बाबू के 6.4.50 को महात्मा गांधी स्मृति मंदिर, बम्बई के उद्‌घाटन के अवसर पर दिए गए भाषण का अंश– "बुद्धदेव के बाद पिछले पच्चीस-छब्बीस सौ वर्ष में भारतवर्ष में दूसरा ऐसा कोई व्यक्ति नहीं हुआ, जिसने

लोगों के जीवन पर इतनी गहरी छाप डाली हो, जितनी गांधी जी ने डाली है। मेरा यह सौभाग्य रहा कि 30-31 वर्ष तक गांधी जी के चरणों में रहकर मैं बहुत निकट से कुछ-न-कुछ करता रहा। मैंने एक जगह लिखा है कि गांधी जी बहुत बड़े महापुरुष थे और उनके नजदीक रहकर भी मैं उतना लाभ न उठा सका जितना उनके निकट रहनेवालों को उठाना चाहिए। यह बात सर्वथा ठीक है। मुझमें जितनी शक्ति थी उतना ही लाभ मैं उठा सका। मनुष्य में जितनी शक्ति और प्रतिभा होती है उसके अनुसार ही वह काम करता है। किसी बीमार से डॉक्टर लोग यह कहें कि फलां औषधि पौष्टिक है और अगर वे उसे उस औषधि को दें भी, पर बीमार में उसको पचाने की शक्ति न हो तो उसके लिए वह औषधि किस काम की ! वह उस बीमार को लाभ नहीं पहुंचा सकती। यही बात बड़े लोगों के समागम से होती है। जिस तरह गंगा नदी हिमालय से लेकर समुद्र तक 1500-1600 मील बराबर बहती है, उसी तरह महात्मा गांधी अपनी 80 वर्ष की अवस्था तक लोगों को सिखाते गए और हमारे ऐहिक और पारलौकिक जीवन से संबंध रखनेवाली बातें बताते गए। गंगा तो सब जगह होकर बहती है, मगर उससे किसी को ज्यादा लाभ मिलता है और किसी को कम। सबको बराबर लाभ नहीं मिल पाता। जिसमें जितनी शक्ति होती है, वह उतना ही लाभ उससे उठाता है। कोई छोटे-से-छोटे लोटे में उसका जल निकालकर पी सकता है और किसी के लिए वह भी संभव नहीं होता। गांधी जी का जीवन ऐसा ही था। जिसकी जितनी शक्ति थी वह उतना लाभ गांधी जी की जीवन-गंगा से हासिल करता था। मैं उनके नजदीक रहकर उनकी जीवन-गंगा से एक लोटा भर ही अमृत ले सका।

गांधी जी का जीवन आदर्श जीवन था। वह अपने जीवन से लोगों को यह दिखा गए कि किस तरह मनुष्य को अपना जीवन बनाना चाहिए। हमें यह समझ लेना चाहिए कि उन्हीं के बताए हुए आदर्श पर चलकर हम अपना और देश का भला कर सकते हैं। हमें चाहिए कि हमेशा उनके आदर्श को सामने रखकर हम आगे बढ़ें। गांधी जी को यहां से गए अभी बहुत दिन नहीं हुए हैं। शायद हमने उनसे कुछ सीखा नहीं और ऐसा मालूम होता है कि बहुत कुछ सुना नहीं, उनके साथ रहकर

हम उनसे बहुत दूर बने रहे। हमने उनसे वही सीखा जो सीख सकते थे। एक कहावत है कि चिराग के नीचे अंधेरा। वही कहावत यहां भी लागू होती है। हम चिराग के नीचे रहते थे, फिर भी हमारा व्यक्तित्व उनके प्रकाश से ज्योतिर्मय न हुआ।

भारतवर्ष के सामने आज यही सबसे बड़ी समस्या है कि गांधी जी के बताए हुए रास्ते पर कहां तक और कब तक चला जा सकता है और कहां तक उसके बदले में दूसरे रास्ते पर चलने में इसकी भलाई है ? मेरा अपना विश्वास यह है कि भारतवर्ष के लिए ही नहीं, सारे संसार के लिए गांधी जी के बताए रास्ते के सिवा कोई दूसरा रास्ता नहीं है। अगर हम शांति चाहते हैं, सुख चाहते हैं, सचमुच मनुष्य बनकर रहना चाहते हैं, तो हमें चाहिए कि हम गांधी जी के बताए हुए मार्ग पर चलकर अपनी और साथ-साथ सारे संसार की भलाई करें। आज दुनिया में नये-नये आविष्कार हो रहे हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों के फल आज हमको मिल रहे हैं। उनको देखकर हम लुभा जाते हैं, पर इस लोभ को देखकर अकसर मुझे डर लगता है कि कहीं हम गलत रास्ते पर न चले जाएं। पहले भी ऐसा हुआ है। दूसरे देश के लोगों ने यहां की शिक्षा से फायदा उठाया और हम इस देश में रहते हुए भी उससे वंचित रहे। गांधी जी के जीवन से हमने लगभग कुछ नहीं सीखा। हो सकता है कि उन्होंने जो-कुछ बताया उसको हम भूल जाएं और दूसरे देश के लोग, जिन्होंने उनकी शिक्षा को अपनाया हो, हमारे यहां आकर हमको उनकी शिक्षा का पाठ नये सिरे से पढ़ाएं। भगवान बुद्धदेव भारत में पैदा हुए। हमने उनसे जो-कुछ सीखा था, हम उसको भूल गये। देश के बाहर के लोगों ने उनके सिखाए हुए मार्ग पर चलकर बहुत कुछ लाभ उठाया और वही लोग आज हमको उनका संदेश सुना रहे हैं। 80 वर्ष की अवस्था तक भगवान बुद्ध इस देश में प्रचार करते रहे। गांधी जी भी 80 वर्ष तक प्रचार करते रहे। सारे देश में भ्रमण करके उन्होंने लोगों को शिक्षा दी। उनके जीवन में और जीवन के बाद भी, करोड़ों लोगों ने उनकी शिक्षा को ग्रहण किया था। मगर सारे देश में देखा जाय तो आज इने-गिने बुद्ध मतवाले मिलते हैं, जबकि दूसरे देशों में आज भी करोड़ों की संख्या में बुद्ध—मतवाले लोग मिलते हैं। हां, यह ठीक है कि उनका बहिष्कार

नहीं किया गया। मेरा विचार है कि बुद्धदेव की शिक्षा हमारे देशवासियों ने बहुत हद तक अपने जीवन में अपना ली। मैं चाहता हूं कि इसी तरह हम गांधी जी के आदर्शों के अनुकूल आचरण करें। जो-जो मुसीबतें हमारे सिर पर आएं, उनसे हम बचें। गांधी जी चाहते थे कि एक-दूसरे के साथ प्रेम का व्यवहार किया जाय। हम आपस में मिल-जुलकर रहें। सिर्फ अपने ही लोगों से नहीं, बल्कि मनुष्य मात्र से प्रेम का बर्ताव करें। इस शिक्षा को हमें ध्यान में रखकर अपने जीवन को उसी तरह बनाना चाहिए। इससे सारे देश का उद्धार होगा।''

जवाहरलाल जी की एक पुस्तक है 'राष्ट्रपिता'। इसमें गांधी जी के संबंध में व्यक्त उनके भाषणों और विचारों का संग्रह है। उसमें भूमिका या प्राक्कथन के तौर पर नेहरू जी ने बहुत कम शब्दों में गांधी जी के संबंध में कुछ कहने की कोशिश की है। 'क्या लिखूं' के अंत का एक अंश देखें– ''जहां-जहां मैं हिन्दुस्तान के बाहर गया, चाहे यूरोप का कोई देश हो या चीन या कोई और मुल्क, पहला सवाल मुझसे यही हुआ– 'गांधी जी कैसे हैं ? अब क्या करते हैं ?' हर जगह गांधी जी का नाम पहुंचा था। गांधी जी की शोहरत पहुंची थी। गैरों के लिए गांधी हिन्दुस्तान था और हिन्दुस्तान गांधी। हमारे देश की इज्जत बढ़ी, हैसियत बढ़ी। दुनिया ने तसलीम किया कि एक अजीब ऊंचे दर्जे का आदमी हिन्दुस्तान में पैदा हुआ, फिर अंधेरे में रोशनी आयी। जो सवाल लाखों के दिल में थे और उनको परेशान करते थे, उनके जवाबों की कुछ झलक नजर आयी। आज उस जवाब पर अमल न हो तो कल होगा। जवाब भी मिलेंगे, और अंधेरे में रोशनी भी पड़ेगी, लेकिन वह बुनियाद पक्की है और उसी पर इमारत खड़ी होगी।''

इन प्रसंगों अथवा उद्धरणों से गांधी जी की महानता कुछ बढ़ नहीं जाती और न तो मूल्यांकन हेतु उनकी कोई विशेष आवश्यकता है, फिर भी इन वाक्य-खंडों को प्रस्तुत करने का मेरा मुख्य उद्देश्य यह है कि उनके सबसे करीबी व्यक्तियों में दो– डॉ० राजेन्द्र प्रसाद और पं० नेहरू के विचारों को सामने रखकर गांधी-स्मृति को आगे बढ़ाया जाए।

मूल विषय जिसे मैंने यहां लिया है, वह है चम्पारण और गांधी। इस संबंध में यहां मैं ऐसे तीन विशिष्ट व्यक्तियों का उद्धरण दे रहा हूं,

जिन्होंने 1917 में गांधी जी के साथ चम्पारण में काम किया था और मैंने स्वयं इनसे मिलकर 1969 में, जब गांधी-शताब्दी मनाई जा रही थी, गांधी जी संबंधी संस्मरण लिखवाए थे, जो मेरे संपादन में उसी वर्ष संपादित 'गांधी जी : प्रथम दर्शन' में संगृहीत हैं । वे थे श्री रामदयाल प्रसाद साह, श्री रामनवमी प्रसाद तथा श्री सरयू प्रसाद । आज इनमें से कोई भी हमारे बीच नहीं हैं, लेकिन उनकी अनुभूतियां हमारे लिए दस्तावेज हैं ।

श्री रामदयाल प्रसाद शाह—"सन् 1920 के दिसम्बर की बात है । मैं श्री गोरख बाबू वकील, श्री ब्रजकिशोर बाबू वकील तथा अन्य स्थानीय लोगों के साथ कांग्रेस में भाग लेने लखनऊ गया था । विचार यह था कि अपने जिले चम्पारण के किसानों पर गोरे निलहों के अत्याचार, अपमान और उत्पीड़न की कहानी कांग्रेस के शीर्षस्थ नेताओं तक पहुंचायी जाए । यहां यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि ब्रजकिशोर बाबू यदा-कदा दरभंगा से आकर गोरख बाबू के साथ स्थानीय लोगों की मदद निलहों के अत्याचारों के विरूद्ध किया करते थे । निलहों का अत्याचार हम चम्पारण-वासियों पर उस समय अपनी पराकाष्ठा पर था । यहां तक कि बहू-बेटियों की इज्जत दिन-दहाड़े लूट लेना इन निलहों के लिए एक मनबहलाव से अधिक कुछ नहीं महत्त्व रखता था । घर में आग लगवा देना तो एक साधारण बात थी । साधारण लोग तो सदा त्रस्त और भयभीत रहा करते थे ।

अस्तु, अपने पूर्वनिर्णयानुसार हम लोगों का दल चम्पारण के प्रतिनिधि-स्वरूप चम्पारण की व्यथा छिपाए 23 सितम्बर, 1916 को लखनऊ के लिए प्रस्थान किया । दल में दरभंगा से श्री ब्रजकिशोर बाबू वकील, मोतिहारी से मैं (रामदयाल प्रसाद साह) तथा श्री गोरख बाबू वकील, बेतिया से श्री हरवंश सहाय तथा श्री पीर मुहम्मद मुनीश और नरकटियागंज से श्री संत राउत तथा श्री राजकुमार शुक्ल आदि सम्मिलित थे । श्री राजकुमार शुक्ल सतबरिया के श्री संत राउत के सहायक थे । वे उनके कार्य से यदा-कदा मेरे पास आया करते थे । उस समय सतबरिया का इलाका एमन साहब के क्षेत्र में पड़ता था । एमन साहब अमोलवा के एक क्रूर और कुचरित्र निलहों में से थे ।

उसी ने श्री संत राउत के घर में प्रतिशोधवश आग लगवा दी थी ।

इसी दुखड़े के साथ श्री हरवंश बाबू मास्टर के कहने पर श्री संत राउत ने राजकुमार शुक्ल को मेरे पास भेजा था।

हम लोग सुबह की गाड़ी से बगहा होते हुए चले। उन दिनों गोरखपुर के लिए बगहा होकर भी गाड़ी जाती थी। हम लोग गोरखपुर से संध्या समय गाड़ी बदलकर प्रातःकाल लखनऊ पहुंच गए। ठहरने की व्यवस्था सरलतापूर्वक हो गयी। दिन भर के काम के पश्चात् संध्या समय श्री राज कुमार और मैं अधिवेशन की झांकी लेने के लिए निकले। कुछ आगे बढ़ने पर पूज्य लोकमान्य तिलक जी आते हुए दिखाई पड़े। हम लोग मार्ग में ही उनसे मिले तथा चम्पारण की दुःस्थिति से उन्हें अवगत कराया। परन्तु उन्होंने अपना उद्देश्य सेल्फ गवर्नमेंट लेना बतलाकर तत्काल चम्पारण की सहायता करने में अपनी असमर्थता प्रकट की। आगे बढ़ने पर महामना मालवीय जी के दर्शन हुए। उनसे भी चम्पारण का दुखड़ा कह सुनाया। उन्होंने भी काशी विश्वविद्यालय के झंझटों के कारण समयाभाव बतलाया। पर साथ ही उन्होंने पूज्य बापू को इन सारी बातों से अवगत कराने के लिए कहा। उनके विचार से वे ही चम्पारण के लिए सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्ति थे। दूसरे दिन तिथि 25 को हम और शुक्ल जी मालवीय जी के निर्देशानुसार गांधी जी से मिलने प्रातःकाल उनके टेन्ट में गए। पहुंचने पर पाया कि गांधी जी दातुन से मुख धो रहे थे। चेहरे पर शांति और गंभीरता एक साथ विराजमान थी। मेरे लिए वह क्षण अविस्मरणीय है। वही मेरी गांधी जी से पहली मुलाकात थी। यद्यपि मुझे गांधी जी का प्रथम दर्शन तो गत वर्ष ही (1919 ई०) काशी विश्वविद्यालय के शिलान्यास के अवसर पर काशी में हो चुका था, पर यह मेरी उनसे मुलाकात थी। सरिता और सागर का मिलन था। प्रकृतिस्थ होने पर मैंने ब्यौरेवार अपने जिले की सारी व्यथा कह सुनाई। वे बड़े ही धैर्य-पूर्वक सुनते रहे। उनका मुखमंडल पहले से अधिक गंभीर हो गया। मैं अपनी बात समाप्त कर उनकी ओर प्रतिक्रिया के लिए उत्सुक हृदय से देखने लगा। मौन टूटा। व्यथित स्वर में उन्होंने कहा कि तुम लोगों का दुख तुम्हारे कथन से कहीं अधिक जान पड़ता है। हृदय को थोड़ा संतोष मिला। बापू कम-से-कम हम लोगों के दुखों से प्रभावित तो हुए, विश्वास तो किया। उन्होंने पूछा– 'क्या चाहते हो ?' मैंने कहा कि चम्पारण के संबंध में कांग्रेस में एक

प्रस्ताव पास करा दिया जाए । पर उन्होंने कहा कि वे स्वयं चम्पारण की स्थिति को देखना चाहेंगे । साथ ही उन्होंने कहा कि अहिंसात्मक ढंग से दुःखों का सामना करने पर ही दुःखों का अंत होगा । उन्होंने अधिकाधिक चम्पारणवासियों को इसके लिए जेल जाने को तैयार रहने पर जोर डाला ।

एतदर्थ, मैंने बड़े ही उत्साह से चम्पारण चलने को आमंत्रित किया। इस पर उन्होंने मुझे अप्रैल माह में कलकत्ता बुलाया, क्योंकि अप्रैल में उन्हें कलकत्ता जाना था। कलकत्ता से ही उनके चम्पारण आने की बात थी ।

अब गांधी जी से चम्पारण आमंत्रण की स्वीकृति पाकर हम लोग फूले नहीं समा रहे थे । ऐसा महसूस होता था कि चम्पारणवासियों का आधा कष्ट उसी क्षण दूर हो गया हो ।

अप्रैल आने पर गांधी जी को लाने के लिए कलकत्ता आना था । बड़ी इच्छा थी कि गांधी जी को अपने साथ लाऊं । परन्तु पारिवारिक कार्यों की उलझनों के कारण मैं नहीं जा सका । अतः अपने सहयोगी शुक्ल जी को सारी व्यवस्था के साथ भेजा जिनके साथ गांधी जी आए और मोतिहारी में ही रहकर उन्होंने चम्पारण के लिए कार्य किया ।

मोतिहारी में उनकी सारी व्यवस्था तथा सेवा करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था । साथ ही साहू परिवार ने गांधी जी के साथ काफी सहयोग किया। गांधी जी द्वारा चम्पारण में किए कार्यों का वर्णन श्रद्धेय डॉ० राजेन्द्र प्रसाद (भूतपूर्व राष्ट्रपति) जी ने अपनी पुस्तक में किया है जिससे आप सभी परिचित हैं ।

यह है गांधी जी से मेरी पहली मुलाकात की छोटी-सी कहानी जो मेरे लिए बड़े गौरव और अमूल्य निधि के रूप में आज भी मानस-पटल पर सुरक्षित है ।''

श्री रामनवमी प्रसाद : ''गांधी जी का दर्शन मुझे पहले-पहल सन् 1916 में लखनऊ कांग्रेस के अवसर पर हुआ था । चम्पारण में उस समय निलहे साहबों के जुल्म से वहां की प्रजा ऊब गई थी । पंडित राजकुमार शुक्ल वहां के एक साहसी गृहस्थ थे जो स्वयं इन कोठीवालों से सताए गए थे । उन्होंने गांधी से भेंट की और चम्पारण की रैयतों की दुखभरी

कहानी सुनाई और बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद जी द्वारा उन्हें चम्पारण में आने का आग्रह किया। वहां की प्रजा की हालत सुनकर उनका दिल पिघल गया और उन्होंने अगले अप्रैल तक वहां जाने का वायदा किया। यह हाल सुनकर वहां की प्रजा उनके आने के दिन गिनने लगी।

महात्मा जी अपने वायदे के अनुसार अप्रैल 1917 के दूसरे सप्ताह में पटना होते हुए पहले-पहल मुजफ्फरपुर पधारे और यहां श्री जे. वी. कृपलानी के साथ, जो उस समय यहां के कॉलेज के प्रोफेसर थे, ठहरे। वहां हम लोग और कुछ वकील महात्मा जी से जाकर मिले और यहां के निलवरों का हाल सुनाया। हम लोगों की बातों को सुनकर महात्मा जी ने निश्चय किया कि वह शीघ्र से शीघ्र चम्पारण जाकर वहां की निलवरों तथा रैयतों के बीच अनबन तथा उसकी जांच करेंगे। इस संबंध में उन्होंने तिरहुत डिवीजन के कमिश्नर तथा फ्लैन्टर्स एसोसिएशन के मंत्री से यहां भेंट की पर उन लोगों ने महात्मा जी को चम्पारण जाने से मना किया। पर इन सब बातों से महात्मा जी विचलित होने वाले न थे। अतः वह 15 अप्रैल, 1917 को मुझे तथा बाबू धरणीधर वकील दरभंगा को अपने साथ लेकर मोतिहारी के लिए रवाना हो गए और वहां जाकर बाबू गोरख प्रसाद वकील के मकान पर ठहरे। वहां पहुंचकर महात्मा जी ने निश्चय किया कि वह हम लोगों को साथ लेकर दूसरे दिन जसौलीपट्टी गांव जाएंगे जहां से निलवरों के अत्याचार की खबर आयी थी। अतएव निश्चित प्रोग्राम के अनुसार हम लोग महात्मा जी के साथ उस गांव के लिए एक हाथी पर रवाना हुए। कुछ ही दूर जाने के बाद जब महात्मा जी एक गांव में उतरकर वहां की प्रजा का हाल सुन रहे थे कि इसी बीच पुलिस के एक दारोगा ने महात्मा जी को खबर दी कि उन्हें जिला मजिस्ट्रेट ने सलाम किया है। महात्मा जी ने हम लोगों को आवश्यक आदेश देकर आगे बढ़ने को कहा और वह स्वयं दारोगा के साथ एक बैलगाड़ी पर मोतिहारी लौटे। रास्ते में ही उन्हें जिला मजिस्ट्रेट की ओर से एक नोटिस दफा 144 धारा की मिली जिसमें उनको चम्पारण छोड़कर शीघ्र चले जाने का आदेश था। यह नोटिस तिरहुत डिवीजन के कमिश्नर के आदेशानुसार दी गई थी। 'महात्मा' जी ने नोटिस पाकर जिला मजिस्ट्रेट को फौरन उत्तर में लिख भेजा कि वह जिस उद्देश्य से वहां आए हैं उसे छोड़कर

नहीं जा सकते हैं तथा इस अवहेलना के लिए जो सजा हो वह भुगतने के लिए तैयार हैं। आखिर उन्हें 144 धारा की अवहेलना के जुर्म में मजिस्ट्रेट के इजलास में 18 अप्रैल, 1917 को हाजिर होना पड़ा। वहां हाजिर होकर वे जुर्म स्वीकार कर उसकी सजा भुगतने को तैयार हो गए। मजिस्ट्रेट महात्मा जी के बयान को सुनकर असमंजस में पड़ गया और उस समय कोई हुकुम न देकर प्रांतीय सरकार से इस विषय में राय पूछी। इस बीच में प्रांत तथा बाहर के भी मुख्य-मुख्य नेता जैसे राजेन्द्र प्रसाद, श्री ब्रजकिशोर, श्री सी. एफ. एंड्रूज, श्री पोलक आदि वहां इकट्ठे हो गए और अपना सहयोग देने के लिए तैयार हो गए। इधर खबर मिलने पर प्रांतीय सरकार ने मजिस्ट्रेट को मुकदमा उठा लेने का हुकुम देकर उन्हें जांच में हर तरह से मदद देने का आदेश दिया। हम लोगों ने महात्मा जी के साथ लगभग छह महीने तक चम्पारण में रहकर करीब दस हजार रैयतों का बयान दर्ज किया। अंत में सरकार ने एक जांच कमेटी कायम की जिसके एक सदस्य महात्मा जी भी थे। अंत में जांच कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर नया कानून 'चम्पारण एग्रेरियन ऐक्ट' बना जिसके जरिए वहां के रैयतों को हर प्रकार से लाभ मिला और वहां के निलवर एक-एक करके चम्पारण छोड़कर चले गए। यह महात्मा गांधी का भारतवर्ष में प्रथम सत्याग्रह आंदोलन का फल था जो स्मरणीय रहेगा।''

श्री सरयू प्रसाद : 'साल 1917 का था। महीना और दिन याद नहीं। निलहे कोठी वालों के अत्याचार से पीड़ित चम्पारण के किसानों को त्राण दिलाने के लिए गांधी ने जो नया, निराला और निर्भीक ढंग सरकारी अधिकारियों के आदेश के विरुद्ध अख्तियार किया उससे बिजली के समान बिहार के कोने-कोने में उनका नाम फैल गया था। दूर-दूर से लोग पगड़ी, मिरजईवाले महात्मा के दर्शन के लिए मोतिहारी में उनके निवास पर भीड़ लगाए रहते थे।

एक दिन पटने में यह खबर पहुंची कि ये महात्मा किसी काम से चम्पारण से पटना होकर अन्यत्र कहीं जाने वाले हैं। दूसरे ही दिन 11 बजे दिन में पटना कॉलेज के हाते में यह समाचार फैल गया कि वह पटना आ गए और फ्रेजर रोड में हक साहब बैरिस्टर के मकान पर ठहरे

हुए हैं। साथ ही यह भी सूचना मिली कि वे तीसरे पहर की गाड़ी से चले जाने वाले हैं। कॉलेज के प्रारम्भिक वर्ग इंटरमीडिएट साइन्स का मैं उस समय विद्यार्थी था। अपने साथियों के साथ महात्मा के दर्शन की प्रबल इच्छा रखता था। यह अवसर हाथ से निकल न जाय यह सोच हम लोग पैदल कॉलेज से निकल पड़े। दौड़ते, हांफते, गांधी-मैदान पार करते हम लोग हक साहब की कोठी पर पहुंचे।

हक साहब की कोठी बरसाती के सामने वाली सबजी पर हम लोग बैठ गए। किसी ने जाकर भीतर खबर दी। दो-तीन मिनट में ही पगड़ी और मिरजईधारी महात्मा हम लोगों के सामने उपस्थित हो गए। झुककर हम लोगों ने उन्हें प्रणाम किया। तुरंत एक कुर्सी लायी गई। उस पर हम लोगों के सामने वे बैठ गए। हम लोगों ने बतलाया—हम दर्शनार्थ उपस्थित हुए हैं, सभी पटना कॉलेज के विद्यार्थी हैं।

उस समय पटना कॉलेज के प्रिंसिपल जकसन साहब थे। चन्द मास पूर्व पटना कॉलेज में एक घटना हो गई थी। प्रिंसिपल से अनुमति लेकर पटना कॉलेज के मिन्टो हिन्दू होस्टल के हम विद्यार्थियों ने अनन्त पूजा का समारोह किया था। पूजा के अवसर पर घंटी भी बजी थी। घंटी की बात से प्रिंसिपल साहब रोष में आ गए। उन्होंने कुछ विद्यार्थियों को यह कहकर सजा दी कि उन्होंने पूजा की अनुमति दी थी, न कि घंटी बजाने की। विद्यार्थियों का कहना था कि घंटी बजाना पूजा का ही एक अंग था। पर प्रिंसिपल साहब को यह मान्य नहीं। उधर मुसलिम होस्टल में कुछ विद्यार्थियों ने सुबह नमाज के समय अजान दी जिससे भी प्रिंसिपल खफा हुए। इन्हीं बातों को लेकर कॉलेज के विद्यार्थियों ने हड़ताल कर दी थी। हड़ताल शहर के कुछ गणमान्य व्यक्तियों ने बीच में पड़ने से समाप्त हो गई थी। गांधी जी ने हम लोगों से मिलते ही इस हड़ताल के संबंध में पूछताछ की। हड़ताल के संबंध की सारी बातें संक्षेप में गांधी जी के सामने रखी गईं। तब वे जिज्ञासा भरी नजरों से देखते हुए बोले—"क्या कुछ पूछना है ?"

मेरे मन में कई तरह के प्रश्न उठ रहे थे। मैंने नम्र भाव से संकोच के साथ कहा, "मेरे दो प्रश्न हैं, एक यह कि आप अहिंसा में विश्वास करते हैं, फिर आप यूरोपीय युद्ध में अंगरेजों की मदद के लिए लोगों

को रंगरूट में भर्ती होने के लिए क्यों कहते हैं ? दूसरा यह है कि देश के स्वतंत्र हो जाने पर यदि कोई बाहर से आक्रमण हो तो क्या हम अहिंसा से अपने देश की स्वतंत्रता की रक्षा कर सकेंगे ?''

गांधी जी ध्यान से बातें सुन रहे थे। प्रश्न के समाप्त होते ही उनके होंठों पर मुसकराहट दौड़ पड़ी। फिर बोले, ''यह ठीक है कि मैं अहिंसा में विश्वास करता हूं। यह भी ठीक है कि मैं लोगों से लड़ाई के लिए रंगरूट में भर्ती होने की अपील करता हूं पर यह समझना चाहिए कि यह अपील किनके लिए है। जबकि सरकार भीषण युद्ध में फंसी हुई है, कोई कारण नहीं जो अपने विश्वास के अनुसार लोग सरकार की सेना में भर्ती होकर मदद न करें। जो अहिंसा में विश्वास करते हैं उन्हें लड़ाई में भर्ती तो नहीं ही होना चाहिए बल्कि भर्ती होने के लिए उन्हें मजबूर किया जाए तो भी सजा इसके लिए उन्हें भुगतनी पड़े, उन्हें इनकार करना चाहिए।''

यह वाक्य समाप्त हो ही रहा था कि इतने में एक सज्जन कोठी से आकर बोल पड़े, ''गाड़ी का समय हो रहा है, अब हम लोगों को तुरंत स्टेशन चलना है।'' महात्मा जी फिर एक बार मुसकराते हुए और मेरी ओर देखते हुए बोले, ''दूसरे सवाल का जवाब तो बाकी रह गया। अच्छा फिर कभी आगे मौका मिलेगा तो देखा जायेगा।''

यह है राष्ट्रपिता के प्रथम दर्शन का संस्मरण जो आज भी मेरे स्मृति-पटल पर विराजमान है।''

यों जिन लोगों ने 1917 में गांधी जी के साथ चम्पारण-सत्याग्रह में हिस्सा लिया, उनमें सर्वश्री डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, डॉ० अनुग्रहनारायण सिंह, आचार्य कृपलानी, विंदेश्वरीप्रसाद वर्मा, बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद, धरणीधर प्रसाद, रामनवमी प्रसाद, रामदयाल साह, गोरख प्रसाद, शंभु शरण वर्मा, चन्द्रदेव नारायण, विंध्यवासिनी प्रसाद वर्मा, शिवनंदन प्रसाद आदि प्रमुख थे। रैयतों का एक-दो बयान माता कस्तूरबा गांधी ने भी स्वयं लिया था।

गांधी जी की आत्मकथा और राजेन्द्र बाबू की पुस्तक 'चम्पारण में महात्मा गांधी' से इस बात पर भरपूर प्रकाश पड़ता है कि पहले तो किसान निलहों के डर से साक्षी देने के लिए घर से निकलते ही नहीं थे, लेकिन गांधी जी ने जब उनका डर भगाया और उन्हें निर्भय बनाया तो उसका

फल यह निकला कि सैकड़ों की संख्या में किसानों की टोली घर से निकलकर बयान दर्ज कराने के लिए आने लगी। कभी-कभी भीड़ इस प्रकार बढ़ जाती थी कि उसे वश में कर पाना मुश्किल होता था। गांधी जी ने अपनी आत्मकथा में इसकी चर्चा भी की है।

उस समय के प्रखर वकीलों की टोली गांधी जी के कार्यों में उनकी सहायक बनी। गांधी जी अपने उन सहयोगियों की चर्चा करते हुए लिखते हैं— "ब्रजकिशोर बाबू और राजेन्द्र बाबू की एक अद्वितीय जोड़ी थी। उन्होंने अपने प्रेम से मुझे इतना पंगु बना दिया कि उनके बिना मैं एक कदम भी आगे नहीं जा सकता था। उनके शिष्य कहिए अथवा साथी, शंभू बाबू, अनुग्रह बाबू, धरणी बाबू और रामनवमी बाबू— ये वकील लगभग निरंतर मेरे साथ रहते थे। विन्ध्या बाबू और जनकधारी बाबू भी समय-समय पर साथ रहते थे। यह तो बिहारियों का संघ हुआ। उनका मुख्य काम था लोगों के बयान लेना।

अध्यापक कृपलानी इसमें सम्मिलित हुए बिना कैसे रह सकते थे? स्वयं सिन्धी होते हुए भी वे बिहारी से भी बढ़कर बिहारी थे। मैंने ऐसे सेवक कम देखे हैं, जिनमें वे जिस प्रान्त में जायें उसमें पूरी तरह घुल-मिल जाने की शक्ति हो और जो किसी को यह मालूम न होने दें कि वे दूसरे प्रांत के हैं। इनमें कृपलानी एक हैं। उनका मुख्य काम द्वारपाल का था। दर्शन करनेवालों से मुझे बचा लेने में उन्होंने इस समय अपने जीवन की सार्थकता समझ ली थी। किसी को वे विनोद करके मेरे पास आने से रोकते थे, तो किसी को अहिंसक धमकी से। रात होने पर अध्यापक का धन्धा शुरू करते और सब साथियों को हंसाते थे, और कोई डरपोक पहुंच जाय, तो उसे हिम्मत बंधाते थे।

मौलाना मजहरूल हक ने मेरे सहायक के रूप में अपना हक दर्ज करा रखा था और वे महीने में एक-दो बार दर्शन दे जाते थे। उस समय के उनके ठाट-बाट और दबदबे में और आज की उनकी सादगी में जमीन-आसमान का अंतर है। हमारे बीच आकर वे हमसे हृदय की एकता साध जाते थे, पर अपनी साहबी के कारण बाहर के आदमी को वे हमसे अलग-जैसे जान पड़ते थे।

जैसे-जैसे मुझे अनुभव प्राप्त होता गया, वैसे-वैसे मैंने देखा कि

चम्पारण में ठीक काम करना हो, तो गांवों में शिक्षा का प्रवेश होना चाहिए। लोगों का अज्ञान दयनीय था। गांवों के बच्चे मारे-मारे फिरते थे अथवा माता-पिता दो या तीन पैसे की आमदनी के लिए उनसे सारे दिन नील के खेतों में मजदूरी करवाते थे। उन दिनों वहां पुरुषों की मजदूरी दस पैसे से अधिक नहीं थी। स्त्रियों की छह पैसे और बालकों की तीन पैसे थी। चार आने की मजदूरी पाने वाला किसान भाग्यशाली समझा जाता था।

शोषितों के जो बयान दर्ज किए जाते थे उनमें से अधिकांश पढ़े-लिखे नहीं थे। बड़ी संख्या उनकी थी जो वहां की स्थानीय बोली भोजपुरी में अपनी बात कहते थे, जिसे गांधी जी के स्थानीय सहयोगी अंग्रेजी में अनुवाद कर गांधी जी के पास लाते थे और गांधी जी उसे पढ़कर शुद्ध भी कर दिया करते थे। बाद में जब कमीशन के सामने गांधी जी ने निलहों के खिलाफ किसानों का पक्ष प्रस्तुत किया तो हजारों ऐसे लोगों के बयानों की जिल्द, जिन पर पीड़ितों का हस्ताक्षर अथवा अंगूठे का निशान था उसे साक्ष्यस्वरूप प्रस्तुत किया गया।''

गांधी जी जब तक स्वयं तसदीक नहीं कर लेते थे तब तक कोई बात न तो बोलते थे और न ही उस पर जोर ही देते थे। उनके संघर्ष का सबसे बड़ा हथियार सत्य था, उस सत्य के प्रति आग्रह ने 'सत्याग्रह' का रूप लिया, जिसका भारत में प्रथम प्रयोग चम्पारण में हुआ और एक वर्ष में ही गांधी जी को उसमें अद्भुत सफलता मिली तथा ब्रिटिश सरकार को सत्य के आगे झुकना पड़ा। उसने 4 अक्तूबर, 1917 में रांची में यह घोषणा की कि अब तीनकठिया लागू न होगा और जोर-जुल्म से नील की खेती न कराई जाएगी। इस न्यायोचित फैसले के लिए गांधी जी ने बिहार के तत्कालीन गवर्नर सर एडवर्ड गेट की भरपूर प्रशंसा की है।

जिन बयानों की चर्चा मैंने पिछले पन्नों में की है तथा जिनके संबंध में गांधी जी का विचार ऊपर आया है, वे अपने आप में सत्याग्रह आंदोलन के जीवित इतिहास हैं। राजेन्द्र बाबू की पुस्तक 'चम्पारण में महात्मा गांधी' के दूसरे संस्करण हेतु सामग्री तथा तथ्य जुटाने का बहुत बड़ा कार्य सुप्रसिद्ध विद्वान तथा तत्कालीन तिरहुत डिवीजन के कमिश्नर श्री श्रीधर वासुदेव

सोहनी आई. सी. एस. ने किया था। वह साक्ष्य संबंधी कई जिल्दों के अवलोकन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि कोठीवालों के विषय में उस समय जो जांच हुई उसके लिए लगभग तेरह हजार लोगों ने अपने साक्ष्य दिए जिनमें अधिकांश राजेन्द्र बाबू ने अपने हाथ से दर्ज किए थे। इसी प्रकार अन्य सभी लोगों ने भी अपनी-अपनी हस्तलिपियों में वे बयान दर्ज किए जो बाद में कई जिल्दों में अंग्रेजी में टंकित होकर साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किए गए।

मुझे यह कहते हुए विशेष प्रसन्नता हो रही है कि 1917 में टंकित उन जिल्दों में से दो हजार किसानों के बयान, जो उसी समय टंकित हुए थे, मेरे पास सुरक्षित हैं, जिन्हें मैं वर्षों से अमूल्य निधि के समान अपने सीने से लगाकर रखे हुए हूं। उन टंकित प्रतियों में यह तो निर्दिष्ट है ही कि किसने किससे किन तिथियों में कहां बयान दर्ज किए, लेकिन उससे भी बड़ी बात यह है कि टंकित प्रतियों में जहां-तहां राजेन्द्र बाबू, ब्रजकिशोर प्रसाद तथा अनुग्रह बाबू आदि के हस्ताक्षर भी सुरक्षित हैं। इस प्रकार निश्चय ही यह एक दुर्लभ दस्तावेज है। इन पर जहां-तहां पेंसिल के निशान हैं, जिनके बारे में कहा जाता है कि बापू ने स्वयं ये निशान लगाए थे।

गांधी जी, चम्पा ण, राजेन्द्र बाबू और नील के धब्बे

गांधी जीवन में जो महत्त्वपूर्ण स्थान चम्पारण का है, वैसा ही चम्पारण-सत्याग्रह को समझने के लिए विशेष महत्त्व डॉ० राजेन्द्र प्रसाद की पुस्तक 'चम्पारण में महात्मा गांधी' का है। यह चम्पारण-सत्याग्रह के एक वर्ष बाद 1918 ई० में ही तैयार हुई, हालांकि इसका प्रथम संस्करण 1922 में निकला। गांधी-टीम के एक सशक्त प्रहरी राजेन्द्र बाबू की पुस्तक प्रत्यक्षदर्शी प्रमाण है। इसके बाद ही किसी और पुस्तक या दस्तावेज की चर्चा हो सकती है।

जैसे सफेद कपड़ों के ऊपर कोई दाग पड़ जाए तो वह दूर से ही झलकता है, वैसे ही चम्पारण के किसानों के ऊपर नील का धब्बा था, जो अंग्रेजों की पाशविकता, बर्बरता और अन्याय का प्रतीक कहा जा सकता है। इसको मिटाने का सारा श्रेय गांधी जी को है, लेकिन उनके साथ समर्पित कार्यकर्त्ताओं की एक ऐसी टीम थी जिसमें राजेन्द्र बाबू और ब्रजकिशोर बाबू जैसे तेजस्वी व्यक्तित्व, प्रो० कृपलानी तथा प्रो० मलकानी जैसे बुद्धजीवी एवं राजकुमार शुक्ल तथा रामदयाल साह जैसे शोषित लोग भी शामिल थे। नील के धब्बों के मिटाने का पूर्ण विवरण हमें राजेन्द्र बाबू की पुस्तक के साथ ही श्री तेन्दुलकर की 'गांधी इन चम्पारण', डॉ० बी० बी० मिश्र की 'महात्मा गांधीज मूवमेंट इन चम्पारण' तथा डॉ० रजी अहमद के 'इंडियन पीजेन्ट मूवमेंट एंड महात्मा गांधी' जैसी पुस्तकों में विस्तार से मिलता है।

राजेन्द्र बाबू की पुस्तक 'चम्पारण में महात्मा गांधी' का एक अंश देखें : "उस समय भारतवर्ष में 'होमरूल' का बड़ा शोर था। जब हम महात्मा जी से कहते थे कि वे उस आंदोलन में चम्पारण को भी लगा

दें, तब वे यह कहा करते थे कि जो काम चम्पारण में हो रहा है, वही 'होमरूल' स्थापित कर सकेगा। उस समय देश शायद ही उस कार्य के महत्त्व को समझता रहा हो, और न हम ही ऐसा समझते थे। पर आज जब कि उस समय की कार्यशैली पर विचार करते हैं और गत तीन-चार वर्षों के राष्ट्रीय इतिहास की ओर ध्यान देते हैं, तब जान पड़ता है कि यह महान आंदोलन जो आज जारी है, चम्पारण की घटना का ही एक अत्यंत विस्तृत और विराट रूप है। यदि चम्पारण और खेड़ा के इतिहास को इकट्ठे कर लिया जाय, तो कुछ असहयोग अथवा सत्याग्रह-आंदोलन ने किया है अथवा करने की इच्छा रखकर भी अभी तक नहीं कर पाया, वे सब बातें उनमें वर्तमान पायी जायेंगी। जिस प्रकार भारतवर्ष को अन्याय और दुराचार के भार से दबता हुआ देखकर महात्मा जी ने असहयोग-आंदोलन आरंभ किया, उसी प्रकार चम्पारण की प्रजा को भी अन्याय और अत्याचार के बोझ से दबती हुई पाकर और उसका उद्धार करना अपना कर्तव्य समझकर उन्होंने वहां भी पदार्पण किया था। जिस प्रकार भारतवर्ष ने सभाओं और समाचारपत्रों और कौंसिल में प्रस्तावों तथा प्रश्नों के द्वारा आंदोलन कर कुछ सफलता प्राप्त न करने पर ही सत्याग्रह और असहयोग आरंभ किया, उसी प्रकार चम्पारण में भी यह सब कुछ करके थक जाने पर ही वहां की जनता ने महात्मा गांधी को निमंत्रित किया था। जिस प्रकार वर्तमान आंदोलन में महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा को अपना अनन्य सिद्धांत रखकर देश को उसे स्वीकार करने की शिक्षा दी है, उसी प्रकार उस समय भी दरिद्र, अशिक्षित और भोली-भाली चम्पारण की प्रजा को व्याख्यानों के द्वारा नहीं, बल्कि अपने कार्यों के द्वारा शिक्षा दी थी। और तो क्या, जिस प्रकार आज अपने ऊपर कष्ट उठाकर, जान-बूझकर अपने को मुसीबत में डालकर देश का उद्धार करने का मनसूबा महात्मा जी ने देशभर के लोगों में पैदा कर दिया है, उसी प्रकार स्वयं जेल के लिए तैयार होकर और सब प्रकार के कष्टों को भुगतने को प्रस्तुत होकर उन्होंने वहां की प्रजा को भी वही सिद्धांत सिखाया। जिस प्रकार वहां सरकारी अफसरों ने महत्मा जी के उद्देश्य को और प्रजा के कष्टों को और उनके साथ किए गए अन्यायों को जानकर भी पहले महात्मा जी को रोकना चाहा था और जेल भेजने तक का भी

प्रबंध किया था, उसी प्रकार इस महान आंदोलन में भी उन्होंने वही किया है। महात्मा जी के चम्पारण जाने के पूर्व भी वहां की प्रजा ने समय-समय पर घोर आंदोलन किया था, कभी-कभी असहयोग करने की भी चेष्टा की थी, पर उस आंदोलन और असहयोग की नींव अहिंसा पर नहीं थी और, सरकार या निलवर, जिसका विश्वास आज तक हिंसा में अटल बना हुआ है और जिसके पास उसके लिए सामग्री भी पूरी प्रस्तुत है, उसको हिंसात्मक आंदोलन में बराबर दबाते और पराजित करते गए। इस आंदोलन में भी जहां हम इस मौलिक सिद्धांत से विचलित हुए हैं, वहीं अपनी सहार की सामग्री स्वयं जुटाते गए हैं। यदि हम उसी सिद्धांत को सामने रखकर इस आंदोलन को बढ़ाते जायेंगे, तो इसमें संदेह नहीं कि जिस प्रकार चम्पारण में सफलता प्राप्त हुई थी... और कार्यसिद्धि में सफलता प्राप्त करते भी दीख रहे हैं, उसी प्रकार इस व्यापक आंदोलन में भी सफलता अवश्यम्भावी है। चम्पारण में जिस प्रकार सरकार ने स्वयं उन बातों को स्वीकार कर लिया जिनको कि वहां की प्रजा प्रायः 60 वर्षों से रो-रोकर और कभी-कभी झगड़कर जताना चाहती थी, उसी प्रकार इसमें भी अंत में सरकार और सरकारी अफसर जो कुछ भारतवर्ष चाह रहा है, उसे स्वीकार करेंगे।''

जैसा मैंने कहा, यह पुस्तक सन् 1918 और 1919 में लिखी गयी थी, पर कई कारणों से कई वर्षों तक पाठकों की सेवा में उपस्थित नहीं की जा सकी थी। इस पुस्तक को पढ़ने से पाठकों को विदित हो जायेगा कि सत्याग्रह और असहयोग के संबंध में जो प्रयोग गांधी जी ने किए, वे अनूठे थे।

इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक का आखिरी संस्करण 1965 में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना द्वारा प्रकाशित हुआ। उसमें 'निवेदन' शीर्षक से श्री श्रीधर वासुदेव सोहोनी आई. ए. एस. ने जो तथ्य दिए हैं उससे इस संबंध में कई रोचक और तथ्यपरक बातें सामने उभरकर आती हैं—

''राजेन्द्र बाबू ने इस पुस्तक में इतने विषय लिये हैं— चम्पारण, चम्पारण का इतिहास, नील, रैयतों के कष्ट, 1907-1909, शरहबेशी, तावान, हुण्डा, हरजा इत्यादि, गवर्नमेंट की कार्रवाई, अबवाब, सर्वे बंदोबस्त, महात्मा गांधी का आगमन, भारतवर्ष में खलबली, बेतिया में

महात्मा गांधी, माननीय मि. मोड से भेंट, निलवरों की घबराहट, महात्मा गांधी की बुलाहट, जांच कमेटी की बैठक, जांच कमेटी की रिपोर्ट, निलवरों में खलबली, चम्पारण एग्रेरियन एक्ट, स्वयंसेवकों की सेवा ।

सच कहा जाए तो इसके बाद इस संबंध में और कुछ भी कहने को शेष नहीं रहता । राजेन्द्र बाबू का वर्णन दैनंदिनी के समान है, जो कहीं-कहीं सजीव चित्र खड़ा कर देता है— ता. 15.4.17 सोमवार को जसौलीपट्टी जाने की तैयारी हुई, और महात्मा गांधी, बाबू धरणीधर तथा बाबू रामनवमी प्रसाद के साथ हाथी पर सवार होकर 9 बजे रवाना हुए । यह वैशाख का महीना था, धूप कड़ी थी, पछवा हवा भी खूब जोरों से बह रही थी । बाहर निकलते ही देह झुलस जाती थी । महात्मा जी को हाथी पर चढ़ने का भी अभ्यास नहीं था, तिस पर हाथी पर तीन आदमी और उस पर तुर्रा यह कि पछवा हवा और धूल की वृष्टि । पर, यहां तो महात्मा जी के हृदय में रैयतों के दुखों को दूर करने की धुन । वृष्टि और धूल क्या कर सकती थी । रास्ते में बहुत तरह की बातें होती जा रही थीं । बिहार में परदा के संबंध में भी बातें छिड़ गईं और महात्मा जी ने कहा कि मेरा यह विचार नहीं है कि हमारी स्त्रियां अंग्रेजी तौर-तरीकों को ग्रहण करें, हमको यह समझना चाहिए कि इस कुप्रथा से उनके स्वास्थ्य को कितनी हानि पहुंचती है और इसके कारण वे अपने स्वामी को कितने कार्यों में सहायता नहीं दे सकतीं । इस प्रकार बातें करते-करते वे लोग मोतिहारी से 9 मील की दूरी पर एक बस्ती चन्द्रहिया में प्रायः 12 बजे के समय पहुंचे । वहां महात्मा जी की इच्छा हुई कि इस गांव की प्रजा का हाल देख लिया जाय । पूछने पर मालूम हुआ कि वह गांव मोतिहारी कोठी का है और उसके रहनेवाले अधिकतर मजदूरी किया करते हैं, इसलिए इस समय सब कोठी में काम करने चले गए हैं । पर एक आदमी से भेंट हुई, जिसने वहां की हालत कह सुनाई और बतलाया कि हम लोगों के साहब के सामने कलेक्टर की क्या मजाल, जो कुछ कर सकें । उनकी बातों से पता लगा कि वे कोठी से संबंध रखनेवालों में से कोई थे । ये बातें हो रही थीं कि इतने में एक आदमी सादे लिबास में पांवगाड़ी पर आते हुए दीख पड़ा । आने पर मालूम हुआ कि वे पुलिस के दारोगा थे । उन्होंने महात्मा जी से कहा कि कलेक्टर साहब ने आपको

सलाम दिया है । महात्मा जी ने उनसे किसी सवारी का प्रबंध करने के लिए कहा और इसी बीच अपने साथियों से कहा कि मैं तो जानता था कि कोई ऐसी घटना अवश्य होगी । आप इसकी चिंता न करें । आप लोग जसौलीपट्टी चले जाइए और वहां जाकर काम कीजिए । यदि आवश्यकता हो, तो आज रात को वहां ठहर जाइएगा । दारोगा जी एक बैलगाड़ी खोजकर ले आये और महात्मा जी बैलगाड़ी पर उनके साथ मोतिहारी की तरफ रवाना हुए और उनके दोनों साथी जसौलीपट्टी चले गए ।

महात्मा जी को रास्ते में एक इक्का मिला । दारोगा जी के कहने पर महात्मा जी गाड़ी छोड़ इक्के पर सवार हो लिये । कुछ दूर और आगे जाने पर एक पुलिस अफसर ने टमटम पर सवार कराया । उस टमटम पर आये हुए सज्जन पुलिस के डिप्टी सुपरिटेंडेंट थे । कुछ दूर जाने पर टमटम खड़ा करके डिप्टी सुपरिटेंडेंट ने महात्मा जी से कहा कि आपके लिए एक नोटिस है ।''

गांधी जी को चम्पारण-प्रवास में जिस प्रकार का सहयोग, सद्भाव, प्यार, श्रद्धा तथा आदर जनता द्वारा मिला वह भी इतिहास का सजीव पन्ना है । उन दिनों न तो आवागमन की इतनी सुविधा थी और न मीडिया ही आज के समान सशक्त था और जो था उस पर अंग्रेजों का ही कब्जा था । जनता में न तो आज के समान जागृति थी और न साक्षरता । उसके बावजूद गांधी जी के कहीं आने-जाने की बात बिजली के समान फैल जाती थी और उनका जिस प्रकार स्वागत होता था, वह अपूर्व था । राजेन्द्र बाबू ने अपनी पुस्तक गें जगह-जगह इसकी चर्चा की है— "22.4.17 को तीन बजे दोपहर की गाड़ी से महात्मा जी अपने सहकारियों के साथ बेतिया गए । अब जिले भर में मुकदमा उठा लेने का समाचार फैल गया और महात्मा जी के उस गाड़ी से बेतिया जाने की खबर लोगों को मिल गई । प्रत्येक स्टेशन पर दर्शनाभिलाषियों की भीड़ जुट गई थी और गाड़ी के पहुंचते ही. जयध्वनि तथा फूलों की वर्षा होती गई । पांच बजे के लगभग गाड़ी बेतिया स्टेशन पर पहुंची । वहां इतनी भीड़ थी कि गाड़ी को स्टेशन के प्लेटफार्म से कुछ इधर रोक देना पड़ा । महात्मा जी तीसरे दर्जे के डिब्बे में सवार थे । शहर तथा जवार के लोगों ने आपका स्वागत

किया। जय-जयकार से आकाश गूंज उठा और पुष्पवृष्टि खूब ही की गई। महात्मा जी गाड़ी पर सवार हुए। लोगों ने घोड़ों को खोल दिया और गाड़ी स्वयं खींच ले जाना चाहा। परन्तु महात्मा जी ने उन्हें ऐसा करने से मना किया। वे गाड़ी से उतर जाने को प्रस्तुत हो गए। हार मानकर लोगों ने फिर गाड़ी में घोड़े जोत दिए। वहां दस हजार से अधिक मनुष्य एकत्र थे। गाड़ी के निकलने में बड़ी कठिनाई हुई, किसी प्रकार धीरे-धीरे गाड़ी शहर की ओर चली। रास्ते के दोनों किनारों पर पुरुष और स्त्रियों की अगणित भीड़ थी। आज लोगों की बहुत दिनों की इच्छा पूरी हुई। महात्मा गांधी वहां पहुंचे। उनके दुख अब दूर होंगे, इसमें अब किसी प्रकार का उन्हें संदेह नहीं रहा। लोगों का विश्वास उनके सरल हृदयों पर दृढ़ था। किसी ने लोगों को महात्मा जी के विषय में कुछ कहा नहीं था। बहुत से तो महात्मा जी के जीवन-चरित को जानते भी नहीं थे। ऐसे बहुत कम आदमी थे, जो आपकी दक्षिण अफ्रिका की सत्याग्रह की लड़ाई से परिचित हों। पर, बिना यह सब जाने, बाह्य दृष्टि से बिना किसी कारण के ही लोगों को यह विश्वास क्यों हुआ, हम इसका उत्तर नहीं दे सकते। विश्वास सच्चा था, शुद्ध हृदय का था, इसलिए फल भी मिला। स्टेशन से महात्मा जी बाबू हजारीमल की धर्मशाला में गए। वहीं बाबू हजारीमल के छोटे भाई बाबू सूर्यमल ने महात्मा जी का स्वागत किया और आपके रहने का कुल प्रबंध करा दिया। जब तक महात्मा जी बेतिया में रहे, यहीं ठहरे रहे। ये लोग आपकी सेवा में बराबर तत्पर रहते थे।''

गांधी जी की सबसे बड़ी जीत यह हुई कि उनकी मांग पर ब्रिटिश सरकार ने किसानों की दशा के सुधारने तथा नील-व्यापारियों के अत्याचार को देखने हेतु कमीशन अथवा जांच कमेटी बनाना स्वीकार कर लिया। इससे भी बड़ी बात यह हुई कि ब्रिटिश प्लांटरों तथा अधिकारियों के विरोध के बावजूद महात्मा गांधी उस जांच कमेटी में किसानों के प्रतिनिधि के रूप में शामिल हुए। इस संबंध में बिहार सरकार की अधिसूचना 10.6.17 को जारी की गई।

अनेक बैठकों के बाद इस जांच कमेटी ने अपनी अंतिम रिपोर्ट नियत समय पर तैयार की जिसके आधार पर व्यवस्थापिका सभा में 29 नवंबर,

1917 को चम्पारण एग्रेरियन एक्ट पेश किया गया , जिसे कतिपय विरोधों के कारण सेलेट कमेटी में दिया गया, जहां मामूली संशोधन के साथ 20 फरवरी, 1918 को सरकारी गजट में प्रकाशित हुआ । अंत में 4 मार्च, 1918 को श्रीमोड ने इसे अंतिम रूप से पेश किया और वह स्वीकृत हुआ ।

निश्चित रूप में चम्पारण के बारे में जो भी लिखा गया या लिखा जायेगा , उसकी पृष्ठभूमि या आधार स्तंभ के रूप में राजेन्द्र बाबू की पुस्तक 'चम्पारण में महात्मा गांधी' रहेगी लेकिन शोधकर्ता, विवेचक और जड़ में जाने वाले लोग निश्चित रूप से उस मर्म व्यथा को आगे बढ़ाएंगे जिससे अंग्रेजों के शासनकाल का वह काला अध्याय मुखरित होकर सामने आए ।

श्री तेन्दुलकर की पुस्तक 'गांधी इन चम्पारण', जिसका हिन्दी अनुवाद बिहार सरकार ने कराया और उसे 'जब गांधी जी चम्पारण आए' नाम से 1974 में पुनर्मुद्रण करवाया, उसमें से कुछ संदर्भ नील का इतिहास, जांच कमेटी की रूपरेखा और तत्कालीन भारत की कृषि एवं आर्थिक स्थिति की जानकारी हेतु मैं यहां प्रस्तुत कर रहा हूं—"अंग्रेजी-निलहों के दबाव से नील की खेती करने वाले भारतीय रैयतों की दुख भरी कहानी औपनिवेशिक शोषण की गाथा का एक कलंकपूर्ण अध्याय है । इंग्लैंड पहुंचनेवाली नील की एक-एक पेटी लोगों के खून से रंगी होती थी ।"

यह उक्ति बंगाल सिविल सेवा के श्री ई. डे. लादियर की है, जो 1848 में फरीदपुर के जिलाधिकारी थे । एक जांच समिति के समक्ष गवाही देते हुए उन्होंने बताया, "दंडाधिकारी के रूप में मेरे पास कई ऐसे रैयत भेजे गए थे जिनके शरीर में आर-पार भाला भोंक दिया गया था । मेरे सामने ऐसे रैयत भी लाए गए जिन्हें एक निलहा श्री फोर्ड ने गोली मार दी थी । मैंने अभिलेख में लिख दिया है कि किस तरह कई लोगों को पहले भाले से आहत करके अपहृत कर लिया गया । मैं समझता हूं कि नील-उत्पादन की यह प्रणाली खूनी प्रणाली है ।"

भारत में यूरोपीय पद्धति से उपजाए जाने वाले मालों में नील सबसे पुराना माल था, और चाय की खेती शुरू होने के पहले तक यह सबसे महत्त्वपूर्ण भी था । यह 1877-78 में 3,494,334 पौंड का 120, 605 हंडरवेट, 1978-79 में 2,960,463 पौंड का 105,951 हंडरवेट और

1882-83 में 3,912,997 पौंड का 141,041 हंडरवेट भारत से बाहर भेजा गया ।

यह बताना कठिन है कि भारत में नील की खेती सर्वप्रथम कब शुरू हुई । किन्तु अभिलेखों से पता चलता है कि देश में उपजायी जानेवाली वस्तु के रूप में इसका प्रचलन भारत में बहुत पहले से ही था । प्राचीन लेखकों का कहना है कि नील लोकप्रिय रंग और लाभकर माल के रूप में भारत से यूरोप लाया गया और इसका नाम उस देश के नाम पर 'इंडिकम' रखा गया जहां यह उपजाया जाता है ।

1600 ई. में नील वाणिज्य का एक ऐसा प्रमुख माल था जिससे ईस्ट इंडिया कम्पनी ने लाभ उठाया और वह कई वर्षों तक इस व्यापार को बढ़ावा देती रही । एक समय ऐसा पाया गया कि वेस्ट इंडीज में नील की अच्छी उपज हो सकती है, और तब एक शताब्दी तक व्यापार चलाने के बाद ईस्ट इंडिया कम्पनी ने पश्चिम भारतीय उपनिवेशों में नील के व्यापार पर धन लगाना बंद कर दिया । किन्तु वेस्ट इंडीज में इसकी खेती अन्य फसलों की अपेक्षा कम लाभप्रद पायी गयी और उसे छोड़ दिया । ईस्ट इंडिया कम्पनी ने पुनः इसकी खेती शुरू की और ठीके में उसे 1879 ई० में 80,000 पौंड का घाटा उठाना पड़ा । इसके बाद कम्पनी ने अपने कर्मचारियों और स्वतंत्र व्यापारियों को यह काम सौंप दिया । भारत में नील की गहन खेती कराने के उद्देश्य से ईस्ट इंडिया कम्पनी ने गोरे निलहों को भारी रकम पेशगी दी । निलहों ने कम से कम लागत पर नील की खेती करवाने के पीछे अमानुषिक और अवैध तरीके अपनाए । 1886 के नीले-आयोग के समक्ष साक्ष्य देते हुए सर एशले इडेन ने उनके जघन्य कर्मों की एक सूची दी और बताया कि जब निलहों पर मुकदमा किया जाता था तब न्याय का भी गला घोंट दिया जाता था । आयोग ने जब पूछा कि ऐसा क्यों होता था तो सर एशले इडेन ने कहा– "निःसंदेह न्याय नहीं होता था और मैं समझता हूं कि बहुत हद तक इसका कारण यह कि गवर्नर और सरकार के अनेक अधिकारी निलहों का पक्ष करते थे । इसका आंशिक कारण वर्तमान कानून भी है, जिसमें किसी यूरोपवासी को दोषी ठहराना बड़ा ही कठिन होता है । मेरा ख़याल है कि बहुधा ऐसे मामले हुए हैं जिनमें सरकारी अधिकारियों

ने निलहों का पक्ष करने के लिए न्याय को ताक पर रख दिया है। मैं तो यहां तक बताना चाहूंगा कि एक नवयुवक सहायक के रूप में मैंने कई मामलों में अपने देशवासियों का पक्ष लिया है।''

सरकार और निलहों के बीच सांठ-गांठ का संदेह रैयतों को तब हुआ जब 1857 ई० में सर फ्रेडरिक हौलिडे की सरकार ने कृष्णगढ़ और मुर्शिदाबाद जिलों में कुछ निलहों को सहायक दंडाधिकारी बना दिया। कृष्णगढ़ के जे० डब्ल्यू० लिंके ने, जो वहां केरैयतों से बराबर मिलते–जुलते रहते थे, जांच आयोग को बताया कि इस नियुक्ति के प्रति रैयतों का रुख अच्छा नहीं था। उन लोगों के बीच यह कहावत-सी बन गयी थी कि ''अब तो भेड़िये को भेड़ की रखवाली मिल गई।'' माननीय जेम्स लोंग ने कहा कि उन्होंने ऐसे गाने भी सुने जिनमें निलहों को दंडाधिकारी नियुक्त करने की भर्त्सना की गई थी और कृष्णगढ़ जिले के लोग उन गीतों को साजबाज के साथ गाते थे। लोगों की यह भी धारणा थी कि लेफ्टिनेंट गवर्नर सर फ्रेडरिक हौलिडे का नील के कई कारखानों में हिस्सा है। बहुतेरे सरकारी कर्मचारी और निलहे खुलकर मिलते-जुलते थे और एक-दूसरे की मदद किया करते थे। किन्तु एकाध अपवाद भी थे, जैसे बंगाल के लेफ्टिनेंट गर्वनर सर जौन पीटर ग्रान्ट और उनके सचिव श्री डब्ल्यू० एस० सेटोन कार। नील आयोग के प्रतिवेदन पर सर जौन ने अपने वृत्त में लिखा है— ''सरकारी अभिलेखों से पता चलता है कि बंगाल प्रान्त में नील उत्पादन की पद्धति बहुत पहले से ही दोषपूर्ण है। विशेष रूप से वर्तमान वर्ष के आरम्भ में तो यह पद्धति इतनी दोषपूर्ण हो गई थी जितनी पहले कभी न थी। 1810 ई. में चार निलहों को सुदूर देहातों में रहने के लिए दिया गया तथा लाइसेंस रद्द कर दिया गया क्योंकि यह सिद्ध हो गया कि वे वहां के निवासियों के प्रति बहुत बुरा व्यवहार करते थे, और उसी वर्ष सपरिषद गवर्नर ने 13 जुलाई को एक परिपत्र जारी करना आवश्यक समझा जिसका उद्धरण नीचे दिया जाता है—

''देहातों के विभिन्न भागों में बसे हुए यूरोपीय निलहों द्वारा किए गए दुर्व्यवहारों तथा अत्याचारों की ओर हाल में सरकार का ध्यान विशेष

रूप से आकृष्ट किया गया है । यद्यपि ऐसे दुर्व्यवहारों और अत्याचारों की घटनाएं इधर बहुत अधिक हुई हैं, तथापि महामहिम सपरिषद गवर्नर जनरल अभी भी आशा करते हैं कि निलहों ने सामान्यतः ऐसा व्यवहार नहीं किया होगा जिससे उनके वर्गगत या समूहगत चरित्र पर इस प्रकार का लांछन लगाया जाए । किन्तु इस वर्ग के कुछ व्यक्तियों के विरुद्ध मजिस्ट्रेटों एवं उच्चतम न्यायालय के समक्ष हाल में जो तथ्य सिद्ध हो चुके हैं, उन्हें देखते हुए सपरिषद् गर्वनर इसे अपना अनिवार्य कर्तव्य मानते हैं कि कुछ ऐसे उपाय किए जाएं जो इस तरह अंग्रेजों के चरित्र पर धब्बा लगाने वाले तथा देश की प्रजा का सुख-चैन हरने वाले अपराधों की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए वर्तमान स्थिति में उन्हें सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत हों ।''

निम्नलिखित टिप्पणियों में जिन अपराधों की ओर संकेत है और जिनकी पुष्टि निलहों ने अलग-अलग निर्विवाद रूप से की है, वे, निम्नलिखित श्रेणियों में बांटे जा सकते हैं–

''प्रथम, वैसे हिंसात्मक कार्य, जो कानून की दृष्टि से हत्या भले ही न कहे जाएं, किन्तु जिनके चलते ग्रामीणों की मृत्यु हुई हो ।

द्वितीय, बकाए की वसूली के लिए अथवा अन्य कारणों के चलते ग्रामीणों को गैर-कानूनी तौर पर कैद करना, खासकर काठ की बेड़ी में डालना ।

तृतीय, अपने-अपने कारखाने के लोगों तथा अन्य लोगों की उपद्रवी भीड़ जुटाकर दूसरे-दूसरे निलहों के साथ हिंसात्मक दंगे करना ।

चतुर्थ, कृषकों या अन्य ग्रामीणों को बेंत से पिटवाकर अथवा किसी अन्य गैर-कानूनी तरीके से दंडित करना ।''

''उसी परिपत्र के द्वारा दंडाधिकारियों को निदेश दिया गया था कि निलहों के पास जो काठ की बेड़ी हों उसे नष्ट करवा दें, गैर-कानूनी ढंग से दिए गए शारीरिक दंड के ऐसे मामलों की रिपोर्ट सरकार को भेजें जो सुनवाई के लिए उच्चतम न्यायालय में भेजने योग्य न हों, और जो यूरोपवासी इस देश में रहने के इच्छुक हों उन्हें समझा दें कि जनता के प्रति दुर्व्यवहार से परहेज करना कितना आवश्यक है ।''

22 जुलाई, 1810 के एक अन्य परिपत्र में मजिस्ट्रेटों को निदेश दिया गया कि वे निलहों से संबंधित उन सभी मामलों की रिपोर्ट प्रस्तुत करें जिनमें निलहों को इस आधार पर दोषी ठहराया गया है कि वे अपने कारखाने के समीप रहने वाले रैयतों को अग्रिम (दादनी) लेने के लिए विवश करते हैं और उन्हें नील उपजाने के लिए अवैध और अनुचित तरीके से मजबूर करते हैं। सपरिषद गर्वनर जनरल ने बताया कि निलहों की तो ऐसी आदत ही है।

लेफ्टिनेंट गर्वनर ने अपने वृत्त में यह भी लिखा है कि—

"जब रैयत किसी ऐसे जमींदार के अधीन होता है कि जो नील–उत्पादक नहीं है तब नील के मामले में उसे उससे कुछ संरक्षण मिल जाता है। किन्तु जब एक ही व्यक्ति नील-उत्पादक और जमीनदार अथवा जमींदार का प्रतिनिधि होता है तब रैयतों की रक्षा करने वाला कोई नहीं रह जाता है।"

"सचमुच में बंगाल में नील-उत्पादन की पद्धति का भंडाफोड़ इसी बात से हो जाता है कि जब पिछले कुछ वर्षों में सभी कृषि-उत्पादनों के मूल्य दुगुने के आसपास हो गए हैं, नील के लिए जो कीमत सामान्यतः चुकायी जाती है उसमें एक आने की भी वृद्धि नहीं की गई और जब तक रैयतों ने खुलेआम विद्रोह नहीं किया तब तक पिछले कई वर्षां में एक भी निलहे ने कीमत बढ़ाने पर कभी विचार तक नहीं किया।"

"नील-आयोग की रिपोर्ट है कि 1860 में जो संकट उत्पन्न हुआ, वह किसी भी साल हो सकता था। ऊपर कही कई बातों से मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि कानून का उल्लंघन करके इस पद्धति को चालू रखने में कोई कितनी भी शक्ति क्यों न लगाए, इसे अधिक दिनों तक नहीं बचाया जा सकता है। जहां तक सरकार के प्रयत्न करने की बात है, यदि उसने इस दिशा में न्याय और नीति की उपेक्षा की होती तो उसे शीघ्र ही कृषकों के विशाल आंदोलन का सामना करना पड़ता तथा यूरोपीय एवं अन्य सभी पूंजियों पर उसका विनाशकारी प्रभाव पड़ता जिसका अनुमान लगाना असंभव है।"

"आयुक्तों का अंतिम निष्कर्ष यह है कि नील की खेती रैयतों के लिए लाभप्रद नहीं है। वास्तव में यही एक सवाल है जिससे नील संबंधी

सभी प्रश्न जुड़े हैं और इस पर सभी एकमत हैं। यदि हम सभी हद दर्जे के मामले को छांट दें और संशय का लाभ नील के पक्ष में रखें तो भी मैं कह सकता हूं कि रैयतों को कम घाटा नहीं उठाना पड़ता है क्योंकि अभी नील के लिए जो ऊंची से ऊंची कीमत दी जा रही है उसके आधार पर मिलने योग्य लाभ न मिलने के कारण जो घाटा होता है वह 7 रु० प्रति बीघा से कम नहीं होता है। यह रकम जमीन के लगान के सात गुने के बराबर है। अब यदि हम गौर करें कि ये रैयत कैरोलिना के गुलाम नहीं, बल्कि इस देश के स्वतंत्र भूधारी हैं और वस्तुतः बंगाल के पुराने आबाद क्षेत्रों के अधिकांश भाग के स्वामी हैं तो हमें इस तरह के घाटे के आधार पर ही नील की खेती का विरोध करने के लिए पर्याप्त औचित्य मिल जाता है। इस समस्या का यह पहलू बड़े ही राजनैतिक महत्त्व का है और इस पर ऐसे सभी लोगों को अत्यंत गंभीरता के साथ सोचना है, जिन पर देश में शांति और सुव्यवस्था कायम रखने तथा ब्रिटिश शासन को सुदृढ़ बनाने की जिम्मेवारी है। यदि कोई यह सोचे कि अभी हाल में बंगाल में लाखों लोगों ने जिस तरह के आक्रोश का प्रदर्शन किया है उसका महत्त्व नील संबंधी सामान्य व्यापारिक प्रश्न से अधिक कुछ भी नहीं है तो मैं समझता हूं कि उस व्यक्ति ने समय की गति को नहीं पहचाना है।''

''बंगाल में नील की खेती संबंधी विवाद सरकार के लिए बहुत दिनों से सरदर्द बना हुआ था। 1860 में नील की खेती के विरुद्ध आक्रोश इतना उग्र हो गया कि कुछ जिलों में नील की खेती होती थी, हिंसात्मक घटनाएं घटीं और स्थिति अत्यंत गंभीर हो गई। वाइसराय लार्ड कैनिंग ने लिखा : ''मैं सच कहता हूं कि इसके लिए एक सप्ताह तक मुझे इतनी चिंता सताए रही जितनी दिल्ली-निवास के समय कभी न हुई थी और उस समय से मैंने महसूस किया है कि यदि किसी मूर्ख निलहे ने आवेश में या भयवश गोली चला दी तो एक-एक कर सारे कारखाने जला दिए जा सकते हैं।''

बंगाल के लेफ्टिनेंट गर्वनर सर जे. पी. ग्रांट ने, जो कुमार एवं कालिंगाना नदियों के रास्ते दौरा कर रहे थे, 1860 ई० में नील-मजदूरों की जागृति का स्पष्ट वर्णन प्रस्तुत किया है :

"कुमार एवं कालिंगाना नदियों के तटों पर कई जगह रैयतों की अपार भीड़ इकट्ठा हुई और उनकी एकमात्र प्रार्थना यह थी सरकार ऐसा आदेश दे कि वे नील की खेती छोड़ दें। कुछ दिन बाद जब मैं उन्हीं दोनों नदियों के रास्ते लौट रहा था तो नदी के दोनों किनारों पर लगभग साठ-सत्तर मील तक ग्रामीणों की भीड़ कतार बांधे सुबह से शाम तक खड़ी थी और इस विषय में न्याय की मांग कर रही थी। किनारों पर बसे गांवों की तो स्त्रियां भी झुंड बनाकर अपने आप इकट्ठी हो गई थीं। पुरुषों के छोटे-छोटे जत्थे जो नदी के किनारों पर तथा किनारे के गांवों के बीच एकत्रित थे, अवश्य ही नदियों के दोनों ओर के सुदूरवर्ती गांवों से आए होंगे। मैं नहीं जानता कि किसी भी भारतीय पदाधिकारी को कभी लगातार 14 घंटों तक दानों तरफ खड़े न्याय के प्रार्थियों के बीच से इस प्रकार गुजरना पड़ा होगा। वे सभी भद्र एवं शांत थे तथा निष्कपट उत्साह से भरे थे। यह मान बैठना मूर्खता होगा कि लाखों पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों द्वारा किए गए इस प्रदर्शन का कोई गंभीर महत्त्व नहीं है। देश के इतने बड़े भाग में ऐसे विशाल प्रदर्शन से यह सिद्ध हो गया कि लोग इस बात के विरोध में सामूहिक रूप से कार्रवाई चलाने की क्षमता रखते हैं और हम इसे नजर-अंदाज नहीं कर सकते।"

रैयतों ने नील-आयोग को कहा था : "चाहे मेरा गला भी कट जाए, मैं नील नहीं बोऊंगा"; "मैं उस देश में चला जाऊंगा जहां नील का पौधा न तो दिखाई देता है और न बोया जाता है"; "मैं किसी के लिए भी, यहां तक कि अपने मां-बाप के लए भी, नील नहीं बोऊंगा"; "मुझे गोलियां खाकर मर जाना मंजूर है, पर नील की खेती करना नहीं।" रैयतों की भावनाएं उनके गीतों एवं कहावतों में भी मुखरित हुईं। 'निलहों का अत्याचार' नामक बंगला गीत पुस्तिका व्यापक रूप से लोकप्रिय हो गई। दूर-दूर तक नील के खेतिहर इन गीतों को गाते-बजाते थे।

गांधी जी की दृष्टि का आभास अच्छी तरह पिछली चर्चाओं से हो गया होगा। नील तो एक माध्यम था, दरअसल वे भारत की आत्मा किसान, गांव और खेती के संतुलन को बनाकर नये भारत का निर्माण करना चाहते थे। चम्पारण उसका एक महत्त्वपूर्ण अध्याय बना।

इस संबंध में एक संपूर्ण विवेचन यदि किसी एक पुस्तक में कोई

देखना चाहे तो वह डॉ० रजी अहमद की किताब 'इंडियन पिजेंट मूवमेंट एंड महात्मा गांधी' में देख सकता है। हालांकि इस पुस्तक की बुनियाद भी राजेन्द्र बाबू की पुस्तक पर खड़ी है, लेकिन सुयोग्य लेखक ने इस संबंध में उपलब्ध सभी सामाग्रियों का अवलोकन किया है।

डॉ० रजी की पुस्तक राजेन्द्र बाबू और तेंदुलकर जी के अवलोकन-मनन से भिन्न है। रजी साहब की दृष्टि एक शोधकर्त्ता की है। उन्होंने बखूबी इसका निर्वाह किया है।

इस परिप्रेक्ष्य में देखें तब पता चलेगा कि गांधी कौन थे तथा क्या थे। समग्र रूप से गांधी का आकलन बहुत कठिन है।। मूल्यांकन का खतरा तो कोई ले ही नहीं सकता। फिर भी किसी न किसी रूप में गांधी-चरित्र का अवगाहन हो तब मैं दस्तावेजों के पन्ने खोलूं।

इसके लिए मैं दो विचारकों या चिंतकों का सहारा लेता हूं, ये हैं जैनेन्द्र और रजनीश। आप आश्चर्य कर सकते हैं- इन्हीं दोनों को मैंने क्यों चुना ? उत्तर भले विवादग्रस्त हो, लेकिन मेरे सामने हैं, इसलिए कि आप इतना तो मानेंगे ही कि जैनेन्द्र और रजनीश दोनों मौलिक हैं, दोनों का प्रयास रहता है कि उधारी से बचें, दूसरों के विचारों का बोझा न ढोंए और कुछ ऐसी कहें, जिससे दुनिया चौंके।

श्री जैनेन्द्रकुमार ने 'अकालपुरुष गांधी' में लिखा है— "गांधी जी के जमाने में रहकर हमारे लिए संभव नहीं है कि हम उनके प्रति कृतज्ञता की भाषा से बच सकें। उन्होंने हमको हमारी मनुष्यता की सुधि दी है। हमारी आंखें खोली हैं। उस हिन्दुस्तान में हम रहते हैं जिसकी रगों में उन्हीं के जगाए प्राण दौड़ रहे हैं। इससे अभिनन्दन और अनुमान द्वारा हम गांधी को प्राप्त कर प्रसन्न होते हैं।

लेकिन अगर हम कृतज्ञता के भाव से ऊपर जा सकें और गांधी जी की महिमा में न रहकर उनकी सत्यता में उतर सकें तो हमें स्तब्ध रह जाना होगा। तब शायद भय से हमारा मन रुक जायेगा। नेता मानकर उनके प्रति जय-जयकार का गुंजार तब हमसे कदाचित न फूटेगा; बल्कि हमारा हृदय एक गंभीर अनुकम्पा और अज्ञात विभीषिका से भर जायेगा। हमारी आंखें तब भीग आयेंगी और लगेगा कि हमारी नीचे की धरती शून्य हो गई है और एक अतल में हम खो जा रहे हैं।

गांधी जी का बाहरी रूप मोहक है। लेकिन उनके भीतर की यथार्थता थर्रा देने वाली हो सकती है। वहां एक ऐसा महाशून्य है जिसकी थाह नहीं और बिरले को उसमें झांकने की हिम्मत हो सकती है।

व्यक्ति जो करता है वह उसी का रूप है जो वह है। होना ही करना है। कर्म का मूल भाव में है। इससे उसकी पहचान भी वही है। यानी आदमी के महत्त्व की परख इसमें नहीं है कि वह क्या करता है, बल्कि वह तो इसमें है कि वह क्या है।

इसी भांति गांधी जी की यथार्थता राज-कर्म में नहीं, भाव-धर्म में देखनी होगी। राजनीति कर्म-गत है, धर्म भाव-रूप। इससे धर्म-प्राण होकर ही राजनीति सत्य है, अन्यथा वह प्रपंच है। धर्म से विहीन कर्म बंधन की सृष्टि करता है। वैसे कर्म के मूल में अकर्म नहीं रहता, अहंकार रहता है। गांधी जी का कर्म स्वभाव-सहज है। यहां तक कि उसका कर्तृत्व भी गांधी जी पर नहीं है। बड़े-से बड़े काम इसी से उनकी नींद को अटका नहीं पाता है।

इस प्रकार गांधी जी का कर्म गांधी जी का माप नहीं है। इस जगह वह सब देशों और इतिहासों के राजपुरुषों से अलग हैं। राजकीय महापुरुषों का कर्म विराट किन्तु व्यक्तित्व संकीर्ण होता है। मानो उस कर्म की वृहत्ता के पीछे मन-प्राण की संकुचितता छिपी रहती है। किया जाने वाला कर्म देश-देशांतर-व्यापी, किन्तु करने वाला मन अहम-सीमित होता है। धार्मिक पुरुषों की बात इससे न्यारी है। कर्म ऐसे व्यक्ति के पास शून्यवत है और भाव पर उसके कोई निजता की सीमा नहीं रह जाती। इससे ऐसे व्यक्ति का स्वल्प कर्म कालांतर में वृहत् फल उत्पन्न करनेवाला हो जाया करता है।

गांधी जी दूसरे अधिकांश प्रसिद्ध कर्मण्य पुरुषों से इस जगह पृथक हैं। छोटे काम या बड़े काम जैसी संज्ञा उनके पास नहीं है। काम कोई भी छोटा नहीं है, इसी से न कोई बड़ा है। असल में आंतरिकता से पृथक बाहरी काम जैसी वस्तु ही उनके पास नहीं है। यह उनकी विशेषता संसार के कार्मिक पुरुषों से उन्हें अलग करके इतिहास के आप्त और मुक्त पुरुषों की पंक्ति में रख देती है।"

जैनेन्द्र यहीं नहीं रुकते– "आदमी अनुभव करता है कि हाथ में

हथकंडा हो, कुछ तिकड़म हो, पहुंच हो, तो समाज नीचे से ऊंचे की ओर उठाया जा सकता है। पास में अगर सिर्फ भलाई है, परिश्रम हैं, नेकनीयती है तो इन चीज़ों के भरोसे नीचे ही रहकर संतोष मानना होगा। यदि समाज की हालत यह है कि नेक और परिश्रमी नीचे रह जाता है और चतुर-चालाक ऊपर चढ़ जाता है तो यह अवस्था पुलिस और न्यायालय के जरिए संभल नहीं सकती। राज्य को पहचानना होगा कि यह संकट व्यवस्था का, तंत्र का नहीं है, मूल्य का ही संकट है। डेमोक्रेसी या जनतंत्र जो मतसंख्या को प्राप्त कर निःशंक हो जाती है, जनमत के दावे पर ही जनमत से मुक्त और स्वतंत्र हो जाती है, अंत में तानाशाही की आवश्यकता को प्रकट कर आती है। यही क्यों, स्वयं वह तानाशाही होती है। इसमें व्यक्ति और उसका चरित्र गौण हो जाता है– समूहता को प्रधानता मिल जाती है। गुट होना चाहिए, फिर उसका स्तर चाहे कुछ भी हो, बस आपका स्थान समाज और राज्य में बनता चला जाता है। यदि समाज-जीवन के चलन और नियमन का मूल्य यह दल एवं गुट-संगठन हो जाय तो कानून और उपदेश क्या मदद कर सकता है !

गांधी जी के काम का निशाना वही था। वह मूल्य-परिवर्तन चाहते थे। राज्य-परिवर्तन तो अपने-आप में कोई बड़ी चीज़ ही नहीं है। उसको क्रांति समझना धोखा खाना है। इतिहास में ऐसे धोखे लोगों को बहुत मिले हैं। राज्य क्रांतियां हुई हैं और तत्काल बाद उनसे निराशा हो चली है। गांधी जी ने इस कुशल राजनीतिक मानस रखकर चलने वालों को बताया कि वे धोखे में न रहें, न धोखा दें। राजनीतिक शब्दावली के हेरफेर से यथार्थता बदल नहीं जाती है। इससे उस शब्दजाल की माया में समय उतना न दें। कारण, वह समय छल में जाता, छल का वातावरण रचने में लगता है। हाथ के परिश्रम का काम महत्त्व बन जाता है। तब जीवन में विषमता न आए, मुसीबत न बढ़े, तो क्या हो। ऐसा होना तो स्वाभाविक ही हो जाता है। गांधी जी से इसलिए राजनीति में रचनात्मक पक्ष का उदय हुआ। मंच पर बोलने से ज्यादा हाथ की मेहनत को महत्त्व मिला। राजनीति में नये प्रकार के नेतृत्व का उदय हुआ। यह व्यक्ति सीधा-सादा था, उसकी अपनी जरूरतें कम थीं। इसके पास पैसा नहीं होता था। मामूली खर्च में उसका काम हो जाता था। नीचे आदमी के

समकक्ष होकर चलने में वह गौरव मानता था। वह तीसरे दर्जे में चलता था। मामूली से मामूली घर में रहता था। सब काम सफाई-धुलाई का अपने हाथ से करता था और यह आदमी समाज में आदर पाता था। उसके कारण सादगी, संयम, त्याग, अपरिग्रह का मूल्य समाज के शरीर में रचता जाता था। देखा जाता था कि सद्गुण ऊपर आ रहा है, दुर्गुण स्वयं दब रहा है। अपराध की संख्या उससे अनायास कम होती थी और उपद्रव उत्पात उतने न होते थे। विद्यार्थी समस्या, यूनियन-समस्या इतनी विकट न थी। न धनिक की ऐश्वर्य-समस्या उतनी दीखती थी। जीवन में उत्साह, उत्कर्ष काम करता था। स्पर्धा की काट की जगह सहयोग की मिठास थी। वह हालत आज नहीं है। तंत्र तो बहुत फैल गया है— सरकारी कर्मचारियों की संख्या कई गुना हो गई है। कानून भी सख्त बन रहे हैं। कोशिश भी भ्रष्टाचार को मिटाने की पहले से जोर-शोर से की जा रही है। पर फल इष्ट नहीं हो रहा है तो इसलिए कि रोग गहरा है– सामाजिक मूल्यों में विषमता आ गई है।"

अब रजनीश से मिलिए। अमूमन यह समझा गया कि रजनीश ने गांधी जी की खिल्ली और गांधीवाद की धज्जी उड़ाई। उनमें न तो उन्होंने चिन्तन की गहराई देखी और न ही दर्शन का अन्वेषण। मैं भी श्री रजनीश के बारे में यही धारणा रखता था। लेकिन इधर मेरे हाथ उनकी एक पुस्तक 'देख कबीरा रोया' लगी, जिसमें कहा गया है– हिन्दुस्तान में गांधी एक पहले ही व्यक्ति थे, जिन्होंने सामाजिक उत्कर्ष का भी विचार किया है। बुद्ध और महावीर को मान लेने से एक-एक व्यक्ति भटक सकता है, गांधी को अंधेपन से मान लेने से पूरे समाज का भविष्य भटक सकता है, पूरा देश भटक सकता है, इसलिए गांधी पर विचार कर लेना बहुत जरूरी है।

गांधी एक अर्थ में अनूठे हैं भारत के इतिहास में। भारत के विचारशील व्यक्ति ने कभी भी समाज, राजनीति और जीवन के संबंध में सीधी कोई रुचि नहीं ली है।

भारत का महापुरुष सदा से पलायनवादी रहा है। उसने पीठ कर ली है समाज की तरफ। उसने मोक्ष की खोज की है, समाधि की खोज की है, सत्य की खोज की है, लेकिन समाज और इस जीवन का भी

कोई मूल्य है यह उसने कभी स्वीकार नहीं किया ।

गांधी पहले हिम्मतवर आदमी थे जिन्होंने समाज की तरफ से मुंह नहीं मोड़ा । वह समाज के बीच खड़े रहे और ज़िंदगी के साथ और ज़िंदगी को उठाने की उन्होंने कोशिश की ।"

उसमें मैंने जब झांका तो पाया यह आदमी गांधी को पकड़ना चाहता था, समझना चाहता था, उनके सम्बन्ध में मंथन करता था ।

हम किसी आदमी को जानने के लिए अध्ययन करते हैं या उसके जीवनवृत का सहारा लेते हैं लेकिन सही पहचान इनसे अलग वे अनुभूतियां हैं, जो शब्दों और अक्षरों से परे हैं । इस रूप में निश्चय ही विनोबा ने गांधी को समझा था— ऐसी धारणा मेरे साथ ही अन्यों की भी है । तो चलिए उनके पास, उनके मुंह से सुनें वे क्या कहते हैं—"गांधी जी एक सत्पुरुष थे, यह तो सभी मानते हैं । लेकिन सत्पुरुष होने के अलावा वे एक नये विचार के प्रवर्तक भी थे । उन्होंने एक नया जीवन-विचार दिया । ऐसा नया विचार सभी सत्पुरुषों द्वारा प्रकट नहीं होता । जिस सत्पुरुष क़ा गठन एक खास परिस्थिति में होता है, उसके मन में नया विचार पैदा होता है । हृदय तो सभी सत्पुरुषों का एक-सा होता है, लेकिन हर एक की बुद्धि और प्रतिभा अलग-अलग होती है । जिसकी प्रतिभा की जिस काल में अधिक आवश्यकता होती है, वह सत्पुरुष उस काल का युग -प्रवर्तक सत्पुरुष होता है ।

सामान्य धर्म-प्रचार और क्रांति दोनों अलग-अलग बातें हैं । सामान्य धर्म का बोध तो ऋषि और संत हमेशा देते रहते हैं, लेकिन जब युग की मांग और संत के उपदेश का संयोग होता है, तब 'क्रांति' होती है । सर्वसामान्य धर्म का प्रचार एक बात है और जमाने को किस बात की जरूरत है, यह परखकर उसके साथ धर्म-विचार जोड़ देना दूसरी बात । अंदर का धर्म-विचार का बल और बाह्य परिस्थिति का बल, दोनों को जो जोड़ दिखाता है, वह केवल 'धर्म-पुरुष' या सत्पुरुष नहीं रह जाता, बल्कि युग-पुरुष बन जाता है । गांधी जी ऐसे ही युग-पुरुष थे ।

गांधी जी एक ऐसे व्यापक विचारक हो गए हैं कि वे लगभग स्मृतिकारों की कोटि में आते हैं । किसी ने इनकी तुलना ईसा के साथ की है, तो किसी ने तिलक के साथ । मेरे मत में इनकी तुलना स्मृतिकारों

के साथ हो सकती है। जिनका व्यापक विचार जीवन के सारे पहलुओं को स्पर्श करता है, उन मनु याज्ञवलक्य के साथ उनको रख सकते हैं। वे एक समाज-शास्त्रज्ञ थे।

फिर मनु और गांधी जी में अंतर है। मनु चिंतनप्रधान थे, तो गांधी जी सेवा-प्रधान। गांधी जी 'एक्टिविस्ट' कर्म-प्रधान थे। गांधी जी ने जो प्रभाव डाला, वह प्रत्यक्ष है और परोक्ष भी। उनकी खूबी यह थी कि वे अपने ग्रन्थों की अपेक्षा बहुत बड़े थे, जब कि जीवन की दृष्टि से शेक्सपियर और मिल्टन अपने ग्रंथों की अपेक्षा छोटे थे। गांधी जी का जीवन खूब ऊंचा, भला और उन्नत था। 'एक्सप्रेशन'– विचार प्रकट करने में वे कमजोर थे। इस कारण उनके ग्रंथों की अपेक्षा उनके जीवन में अधिक प्रतिभा थी।

शंकराचार्य महान् पुरुष हो गए। रामकृष्ण परमहंस भी महान थे। इन लोगों ने भी जीवन के अनेक क्षेत्रों में कुछ-न-कुछ सिखाया और लोगों के जीवन में परिवर्तन लाया। लेकिन वे सूर्यनारायण की तरह दूर रहकर प्रकाश देते थे। हमें सूर्य की करणों से स्वास्थ्य मिलता है। लेकिन शरीर के किसी भाग में सूजन आ जाय और सेंक करना हो तो उससे लाभ नहीं होगा। उसके लिए तो अग्नि ही चाहिए, जो नजदीक आकर दास बनकर हमारी सेवा करती है।

सूर्यनारायण आपका गुरु बनता है, दास नहीं। वह प्रकाश देगा और उस प्रकाश में आपको अपनी बुद्धि के अनुसार काम करना है। वह आपका मार्गदर्शक बनता है, सेवक नहीं। फिर भी सूर्यनारायण न होता, तो अग्नि में जो शक्ति है वह भी न होती यह उतना ही सच है।

आध्यात्मिक प्रतिभा अंदर से ही उगती है। इसलिए एक महापुरुष की तुलना दूसरे महापुरुष के साथ नहीं हो सकती। कौन ऊंचा और कौन नीचा, ऐसा विचार करने में कोई अर्थ नहीं। प्रत्येक की अपनी अलग प्रतिभा होती है। हम तो केवल महापुरुषों के भिन्न-भिन्न प्रकारों के बारे में बात ही कर सकते हैं।

कितने ही महापुरुष करुणावान और वत्सल होते हैं। उनमें ज्ञान छिपा रहता है और करुणा प्रकट होती रहती है। गांधी जी इसी प्रकार

के महापुरुष थे । करुणा और वात्सल्य से प्रेरित होकर वे अंत तक लोगों का काम करते रहे । प्रत्येक उन्हें अपना आदमी मानता क्योंकि वे सामान्य आदमी के साथ उसकी भूमिका पर रहकर बात करते थे । किसी का पेट दुखता तो गांधी जी इलाज बताते । पति-पत्नी के बीच अनबन हो गयी, तो वे गांधी जी के पास सलाह लेने पहुंच जाते । अपने सभी महत्त्व के कामों के बीच भी समय निकाल वे उन सब विषयों में रस लेते और प्रत्येक को समुचित सलाह देते थे । मां की तरह वे बातचीत करते, विचार करते, इसीलिए लोग उनके पास बेधड़क दौड़ जाते । ऐसी उनकी करुणा प्रकट रूप में बिलसती थी ।

बालकों को वे अपने जैसे बालक ही लगते । बहनों को लगता कि वे हमारी एक बहन ही हैं । इस तरह बहनें खुले मन से उनसे बातें कर पातीं । हर एक को यही लगता कि वे अपने परिवार के आदमी हैं ।

हम सब निकट के लोग गांधी जी को 'बापू' नाम से पुकारते । बाद में तो सारा देश ही उन्हें 'बापू' कहने लगा और अंत में इन्हें 'राष्ट्रपिता' कहा । लेकिन मैं जब भी बापू के बारे में सोचता हूं, मुझे लगता है कि वे पिता की अपेक्षा माता ही विशेष थे । हमारे यहां कहा है– गौरव में हजार पिता की अपेक्षा एक माता श्रेष्ठ है । बापू में पितृत्व की तरह मातृत्व भी प्रकट होता था । हम जब भी उनका स्मण करते, उनके दूसरे अनेक गुणों की अपेक्षा उनका वात्सल्य ही सबसे अधिक याद आता है। उनके वात्सल्य का अनुभव उनके समीप रहनेवालों को भी हुआ और दूर रहनेवालों को भी हुआ । उनके सारे गुणों में उनकी 'वत्सलता' और 'करुणा' मुख्य थी ।

इस तरह हमने बापू में पुरातन परम्परा के अनुरूप और नूतन परम्परा के बीजरूप महापुरुष के, एक विचार-प्रवर्तक युगपुरुष के, एक स्मृतिकार कोटि के समाज-शास्त्र के, एक करुणा-वत्सल माता-समान महापुरुष के दर्शन किए । ऐसे महापुरुष के सान्निध्य में हमें रहने को मिला, यह हमारा परम सद्भाग्य है ।

हमारे देश में विभूति-पूजा चलती है । बात-बात में महापुरुष को दिव्य स्वरूप में देखने की हमारी आदत ही पड़ गयी है । गांधी जी का भी ऐसा ही दैवीकरण करने की कोशिश हो रही । बहुत-से लोग उनका

इस तरह गुणगान करते हैं, मानो वे भगवान ही थे। उनको राम और कृष्ण की कोटि में डाल देते हैं। यह ठीक नहीं है।

मानव-देह में एक आकांक्षा रही है कि भगवान के गुणों का साक्षात्कार इस शरीर में हो। इसलिए कोई महापुरुष अवतारस्वरूप हुआ तथा पूर्ण ब्रह्म और साक्षात् ब्रह्म मानव-रूपधारी बना, ऐसा मानना हमारे लिए उपासना का एक आधार बनता है। इस दृष्टि से उसका मूल्य भी है। लेकिन ऐसा आधार तो हमें राम और कृष्ण में काफी मिल चुका है। अब तीसरे की जरूरत ही क्या है ?

अब दूसरों को राम और कृष्ण की कोटि में रखने में कोई लाभ नहीं, हानि ही होगी। नये-नये मनुष्यों को अतिमानव बनाने का नये सिरे से प्रयत्न होगा। ऐसा होने पर वे सब पुराणकाल से अनेक कवि-कल्पनाओं से समृद्ध राम और कृष्ण के चरित्रों की कोटि में टिकने योग्य न बन पायेंगे। उनकी तुलना में ये फीके पड़ेंगे। सिवा इसके, विज्ञान के जमाने में ऐसा प्रयत्न हास्यास्पद भी होगा। 'भारत को स्वतंत्र करने के लिए भगवान का जन्म हुआ' ऐसा कहकर हम गांधी जी का चरित्र लिखने बैठेंगे, तो यह भागवत की हास्यास्पद नकल जैसी बात होगी। भागवत जैसे निरंतर पढ़ा जाता है, वैसे यह निरंतर नहीं पढ़ा जायगा, बल्कि हास्यरस ही पैदा करेगा— शेखचिल्लीपन हो जायगा।

इसलिए गांधी जी के प्रति हम ऐसी मूढ़ भक्ति न रखें। वे एक मानव थे और मानव ही रहने चाहिए। उन्हें वैसा रहने देने में हमारा ही लाभ है। ऐसा करने से एक सज्जन का चित्र हमारे सामने रहेगा और आज जिसकी खूब आवश्यकता है, ऐसा नैतिक आदर्श संसार को मिलेगा। इसके बदले उन्हें देव बना देंगे, तो उससे देवों को तो कोई फायदा होने वाला नहीं, बल्कि हम मानवता का एक आदर्श खो बैठेंगे। भक्तिभाव के लिए हमारे पास चाहे जितनी सामग्री पड़ी है। उसके लिए नये देव की नहीं, जीवन-शुद्धि के एक पवित्र दृष्टांत की जरूरत है। नीति के पुराने दृष्टान्त नये जितना काम नहीं देते। बापू के रूप में हमें ऐसा नया दृष्टांत मिला है। उन्हें देव बना देंगे तो हम घाटे में रहेंगे और लाभ कुछ नहीं होगा। अनेक सम्प्रदायों के बीच एक सम्प्रदाय और पैदा करेंगे और उससे हम क्या पायेंगे ? इससे बेहतर है कि हम गांधी जी को भगवान

की कोटि में न बैठाएं। उन्हें देव बना देने के बदले आदर्श मानव ही रहने दें।''

आगे विनोबा कहते हैं– ''एक बार एक भाई ने मुझसे पूछा कि उन्हें 'गांधी' कहा जाए या 'गांधी जी' ? मैंने कहा : आप यदि उन्हें व्यक्ति मानते हों, एक पूज्य पुरुष के रूप में देखते हों, तो 'गांधी जी' कहिए। लेकिन यदि उन्हें विचार मानते हों, तो गांधी कहें, गांधी जी मेरे लिए आज एक व्यक्ति नहीं, विचार हैं।

इन विचारों के दोहन में कल क़ी पीढ़ी कहीं भ्रमित-सी न हो जाए, इसलिए जरूरी है कि गांधी जी को यथावत प्रस्तुत किया जाए। जन्म से लेकर मरण तक, संघर्ष से लेकर शांति तक़, सत्याग्रह से लेकर सामाजिक सुधारों तक।''

प्रतिवर्ष गांधी तथा गांधी से संबंधित विषयों पर दुनिया में लगभग 100 पुस्तकें आज भी प्रकाशित हो रही हैं, यह इस तथ्य को उजागर करता है कि गांधी कभी अप्रासंगिक नहीं हो सकते। 'गांधी चले गए, गांधीवाद नहीं रहा'– सोचते-कहते पुनः गांधी लौट आते हैं, कभी मार्टिन लूथर किंग के रूप में, कभी जयप्रकाश के रूप में, कभी नेल्सन मंडेला के रूप में। उन्होंने एक वाक्य में ही अपना सब कुछ स्पष्ट कर दिया था– ''मेरा जीवन ही मेरा दर्शन है।''

अफ्रिका के गांधी : भारत के म ात्मा

1915 में जब गांधी जी दक्षिण अफ्रिका से भारत आए, उस समय तक वे मोहनदास करमचंद गांधी थे लेकिन 1917 में चम्पारण सत्याग्रह की सफलता के बाद वे महात्मा गांधी के रूप में सम्मानित, प्रचारित और पूजित हुए। यों तो उनका संपूर्ण जीवन और उस जीवन का एक-एक दिन महत्त्व का है, लेकिन 1915 से लेकर 1917 के तीन वर्ष कुछ विशेष संदर्भ और मायने रखते हैं । 1917 में गांधी जी दक्षिण अफ्रिका से भारत लौटे और 1917 में उन्होंने चम्पारण सत्याग्रह में विजय पायी तथा देश में वह एक कोने से दूसरे कोने तक प्रसिद्ध हो गए । इन्हीं वर्षों में वे 'महात्मा' शब्द से विभूषित हुए। इन्हीं वर्षों में वे देश के सभी बड़े नेताओं के सम्पर्क में आए । इन्हीं वर्षों में उन्होंने भारत को जाना । इन्हीं वर्षों में वे कांग्रेस के लगभग सभी अधिवेशनों तथा बैठकों में शामिल हुए । इन्हीं वर्षों में उन्होंने अपने राजनीतिक गुरु श्री गोपालकृष्ण गोखले के निर्देशानुसार भारत के हर क्षेत्र का दौरा किया । इन्हीं वर्षों में उन्होंने साबरमती आश्रम की नींव डाली और इन्हीं वर्षों में वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सबसे बड़े नेता के रूप में उभरे ।

गांधी-जीवन के इन तीन वर्षों का लेखा-जोखा भारतीय इतिहास और राजनीति की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, वरन् सामाजिक और शैक्षणिक भावबोध की दृष्टि से भी इनका विशेष महत्त्व है । कारण, गांधी का कार्य-संचालन औरों से भिन्न था । कथनी से अधिक करनी और सिद्धांत से अधिक व्यवहार उनके जीवन का स्पष्ट लक्ष्य दिखाई देता है । जैसे राजनैतिक मंचों पर आजादी का वास्तविक संघर्ष शुरू करने से लेकर छुआछूत, स्त्री-शिक्षा, परदा प्रथा, हरिजन समस्या, भाषा-स्वरूप, लिपि-बोध, स्वावलंबन, खादी, कुटीर-उद्योग, ग्राम-विकास, आश्रम स्थापना, ट्रस्टीशिप जैसे अनेक क्षेत्रों में गांधी जी के कार्य का विस्तार था ।

हर क्षेत्र में वे प्रयोग कर रहे थे अथवा अपनी छाप छोड़ रहे थे। 1915 में शांतिनिकेतन में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के साथ रहकर जीवन और शिक्षा के आयामों की परख तथा 1916 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना भी उनके कार्यक्रमों का अंग था ।

गांधी जी का संपूर्ण जीवन केवल सत्य का ही प्रयोग न था, वरन् सीखने तथा सिखाने का भी अद्भुत सामंजस्य था । इसी बीच उन्होंने जो मंडली बनाई, उसने केवल आजादी की लड़ाई में ही अपनी सहभागिता न दिखाई, वरन् आजादी के बाद सरकार में रहकर तथा उससे बाहर होकर भी गांधी को किसी रूप में अपने सामने रखा । जवाहरलाल नेहरू हों या डॉ. राजेन्द्रप्रसाद, सरदार वल्लभभाई पटेल हों या विनोबा, धीरेन्द्र मजुमदार हों या वियोगी हरि– ऐसा लगता था मानो गांधी का अंश किसी न किसी रूप में उनके अंदर वास करता है । राष्ट्रपिता गांधी से अलग एक आत्मदर्शी गांधी हमें कई खंडों में दिखाई देते हैं । लार्ड लिनलिथगो ने इसीलिए गांधी के बारे में ब्रिटिश प्रधानमंत्री को गोपनीय पत्र भेजते हुए लिखा था– यह गांधी नाम का आदमी बहुत बड़ी चीज़ है ।

यहां मैं विस्तार में नहीं जाकर अपने को उन तीन वर्षों में केन्द्रित करता हूं जो गांधी जीवन के सेतुबंध हैं । गांधी जी 9 जनवरी, 1915 को दक्षिण अफ्रिका से 22 वर्षों बाद जब भारत लौटे और बम्बई में उनका आगमन हुआ तो जहाज के बाहर गोखले ने उतावली भीड़ के साथ उनका स्वागत किया और उसी दिन गांधी जी के अभिनन्दन में जो सभा हुई, उसकी अध्यक्षता मोहम्मद अली जिन्ना ने की । तत्कालीन बम्बई के गर्वनर जनरल ने यह इच्छा व्यक्त की कि गांधी बिना उनसे बातें किए बम्बई से बाहर न जाएं । ये सारी बातें बतलाती हैं कि गांधी का महत्त्व उस पहले दिन से ही था, जिस दिन वह दक्षिण अफ्रिका से लौटे ।

हर व्यक्ति के जीवन में उतार-चढ़ाव घटनाओं के इर्द-गिर्द होता है । यहां गांधी बिलकुल अलग दिखाई देते हैं– घटनाओं के साथ वे संयुक्त नहीं होते, घटनाएं ही उनके साथ संबद्ध होती हैं । चम्पारण सत्याग्रह इसका बहुत बड़ा उदाहरण है ।

अब हम सीधे आ जाएं उन तीन वर्षों पर जिनकी चर्चा मैंने प्रारंभ में की है । 1915, 1916 तथा 1917 गांधी-जीवन के सम्यक् बोध हैं,

जिनकी व्याख्या अलग से हुई है तथा होती रहेगी। मैं केवल उन वर्षों और तिथियों का हवाला दे रहा हूं, जिन्होंने आजादी के बहुत पूर्व हमारा जीवन्त इतिहास गढ़ा। ये तिथियां किसी आदमी के भटकन की कहानी न होकर उस कर्मठता और पुरुषार्थ की कहानी हैं, जिसने गांधी जी को मनुष्य से ऊपर उठाकर देवताओं की श्रेणी में लाकर खड़ा किया। हालांकि यहां मैं विनोबा जी से सहमत हूं कि गांधी को मनुष्य ही रहने दिया जाए, देवता न बनाएं। लेकिन आश्चर्य होता है कि 1915-16-17 में एक तो साधनों की कमी थी, परिवहन व्यवस्था बहुत अच्छी नहीं थी तथा संचार के साधन आज के समान नहीं थे, फिर भी गांधी जी कैसे हर जगह पहुंच गए। अब तो ये तिथियां ही इतिहास को संदर्भ देती रहेंगी, जिसकी व्याख्या लोग अपने-अपने अनुसार करने को स्वतंत्र हैं।

यह भी यहां देखना रोमांचित करता है कि तीन वर्षों तक गांधी जी सतत घूमते ही रहे और इससे भी बड़ी बात यह है कि उन्होंने अपना कोई घर नहीं बसाया, बल्कि आश्रमों की स्थापना की। कितना अजीब लगता है कि उनका कोई घर नहीं, कोई स्थायी पता-ठिकाना नहीं, कोई गृहस्थी नहीं, परिवार का कोई हिसाब-किताब नहीं। जहां कहीं भी रहे तो किसी मित्र-परिचित के घर अथवा किसी धर्मशाला या सार्वजनिक स्थान में। न तो किसी होटल में और न किसी किराए के मकान में। सार्वजनिक जीवन की शुचिता उन्होंने इस प्रकार कायम की। यह भी यहां द्रष्टव्य है कि जिस घर में वे ठहरे, वह आज राष्ट्रीय धरोहर हो गया। इसी भांति जिस परिवार को उन्होंने अपने आतिथेय का गौरव दिया, वह उनका अपना हो गया।

इन तीन वर्षों में गांधी जी सबसे अधिक बम्बई में, अहमदाबाद में और बिहार जिले के चम्पारण में रहे। हालांकि उनकी दैनंदिनी यह बताती है कि इस बीच वे कराची से लेकर मद्रास तक और शांतिनिकेतन से लेकर पूना तक अनेक बार गए-आए। मैं उनके विस्तृत कार्यक्रमों की झांकी इसलिए दे रहा हूं जिससे यह पता चल सके कि एक व्यक्ति विपरीत परिस्थितियों में भी कितना विस्तृत संघर्ष-संपर्क रख सकता है। उसके साक्षात् उदाहरण गांधी जी थे।

लोकनायक जयप्रकाश ने गांधी जी का विश्लेषण करते हुए कहा

था– "गांधी जी का एक अपना जीवन-दर्शन था । उनके कुछ सामाजिक सिद्धांत थे और राज्य-व्यवस्था विषयक उनकी एक अद्‌भुत कल्पना थी । इसलिए जब आजादी मिली तब हमें विदेशी लोक-कल्याणवादी राज्य अथवा समाजवाद या साम्यवाद की नकल करने की कोई जरूरत नहीं थी । आजादी के बाद के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उन्होंने इन सबसे सर्वथा भिन्न और नया सर्वोदय का विचार प्रस्तुत किया था ।

"हम चारों ओर से भले ही सब कुछ लें । समाज-विज्ञान, भौतिक-विज्ञान आदि सभी में से जो कुछ अच्छा हो, वह जरूर ग्रहण करें । ज्ञान की कभी उपेक्षा न करें और सत्य की खोज में कभी पीछे न हटें । किन्तु जो कुछ भी लें, उसका अपनी परिस्थिति तथा अपने वातावरण के साथ तालमेल बैठाने की कोशिश करें । वह किसी विदेशी तत्त्व के रूप में नहीं रहना चाहिए, बल्कि हमारे स्वाभाविक विकास का एक अंग रूप बन जाना चाहिए । उसकी बुनियादें भारत-भूमि में, भारत के इतिहास में, भारतीय संस्कृति में और भारत की आत्मा में होनी चाहिए । इसलिए गांधी जी ने कहा है कि मैं अपने घर की सभी खिड़कियां खुली रखना चाहता हूं ताकि चारों तरफ की हवा उसमें आ सके, ऐसी मेरी इच्छा है, किन्तु वह हवा ऐसी नहीं होनी चाहिए कि घर को ही उखाड़कर फेंक दे ।"

यहां हम तीन वर्षों के कार्य को उनके जीवन के मूल्यांकन का पैमाना नहीं बना सकते, लेकिन उन प्रारंभिक वर्षों के आलोक में गांधी के जीवन और दर्शन का अवगाहन जरूर कर सकते हैं । गांधी जी की हत्या के बाद तत्कालीन अमरीकी सेनापति मेकआर्थर ने उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा था– "यह एक ऐसा महपुरुष था, जो अपने जमाने से कहीं आगे जीता था । किसी-न-किसी दिन दुनिया को गांधी जी की बात सुननी ही पड़ेगी, नहीं तो हिंसा के रास्ते दुनिया का विनाश हो जाएगा। इसी भांति फिलिप नोएल बेकर का मानना था कि गांधी जी की महानतम उपलब्धियां तो अभी आने वाली हैं ।

यह वर्ष गांधी जी की 125 वीं जयंती का वर्ष है । आवश्यकता है कि खुले दिल-दिमाग से हम उन्हें आज पहचानने और ग्रहण करने का प्रयास करें ।

अध्याय: आंदोलन की शुरुआत और गांधी की स्मृति

9 जनवरी, 1915 को गांधी जी दक्षिण अफ्रिका से भारत पहुंचे और लगभग दो वर्षों बाद 10 अप्रैल, 1917 को पहली बार उनका बिहार आगमन हुआ। गांधी जी चम्पारण की राह में पटना और मुजफ्फरपुर तीन-चार दिनों तक रुके। उन्हें बिहार लाने का श्रेय एक मामूली-से किसान कार्यकर्त्ता श्री राजकुमार शुक्ल को है। राजकुमार शुक्ल चम्पारण के उन हजारों किसानों में से एक थे जो निलहों के शोषण के शिकार थे।

1917 में गांधी जी ने चम्पारण में अपने सत्याग्रह की शुरुआत की जिसने उन्हें पूरे देश में चर्चित और विश्व में प्रसिद्ध किया, तो उस काल में उन्हें पहली बार देखने वाले या उनके साथ काम करने वाले अनेक ऐसे लोग कुछ दिनों पहले तक हमारे बीच थे, जिनकी आंखों में गांधी जी की तसवीर झांकती थी। उस समय तक दक्षिण अफ्रिका से आए गांधी मोहनदास कर्मचन्द गांधी थे लेकिन चम्पारण सत्याग्रह के बाद वे महात्मा गांधी के रूप में प्रसिद्ध हो गए। आज भी चम्पारण के चप्पे-चप्पे पर गांधी जी की याद बिखरी पड़ी है।

5 मार्च, 1947 को स्वयं गांधी जी ने पटना के गांधी मैदान में यह उद्‌गार प्रकट किया था— "बिहार ने ही मुझे सारे हिन्दुस्तान में जाहिर किया। उसके पहले तो मुझे कोई जानता भी न था। बीस साल अफ्रिका में रहने के कारण मैं हब्शी-सा बन गया था। उसके बाद मैं चम्पारण में आया और सारा हिन्दुस्तान जाग उठा। पहले मैं जानता भी न था कि चम्पारण कहां है। लेकिन जब यहां आया तो मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मैं बिहार के लोगों को सदियों से जानता था और वे मुझे पहचानते थे।"

आज से लगभग 25 वर्ष पूर्व जब गांधी शताब्दी का आयोजन किया जा रहा था, मैंने अनेक ऐसे लोगों से मुलाकातें कर उनसे ऐसे संस्मरण

लिखवाए थे, जिनमें सरलता के साथ गांधी जी के प्रथम दर्शन की झांकी मिलती थी। निश्चय ही ऐसे संस्मरणों से एक ओर जहां हमारा साहित्यिक भंडार भरता है, वहीं दूसरी ओर उस समय के इतिहास पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। आज से 77 वर्ष पूर्व 1917 में गांधी जी को करीब से देखने वालों के उन संस्मरणों को आज 125वीं जयंती के अवसर पर मैं यहां प्रस्तुत कर रहा हूं। निश्चय ही ऐसे संस्मरण हमारे लिए ऐतिहासिक दस्तावेज और स्वर्णिम धरोहर हैं।

जिन लोगों के संस्मरणों के सहारे मैं 1916 और 1917 को आज याद कर रहा हूं, वे हैं— श्री रामदयाल प्रसाद साह, श्री रामनवमी प्रसाद, श्री विशम्भर प्रसाद, श्री सरयूप्रसाद तथा श्री कपिलदेव नारायण सिंह 'सुहृद'।

आज इन पांचों में से कोई हमारे बीच नहीं है। अतः बापू के साथ-साथ हम इन्हें भी याद करें तथा श्रद्धांजलि दें। उनके इन संस्मरणों को मैंने गांधी शताब्दी वर्ष 1969 में उनसे लिखित रूप में लिये थे अथवा बोलकर लिखवाए थे, इसलिए संस्मरणों की भाषा और भावों की रूपरेखा उस काल से संपृक्त है।

श्री रामदयाल प्रसाद साह ने मेरे अनुरोध की रक्षा करते हुए मुझे पत्र में लिखा था, "जीवन की इस संध्या में जबकि मैं इक्यासी वर्षों का हो चुका हूं, जिससे शरीर के अवयव जवाब दे रहे हों, स्मृतियां क्षीण होती जा रही हों, वहां संस्मरण पूर्ण रूप से लिख पाना मेरे लिए कठिन है। फिर भी जो बन पड़ा है, आपके स्नेहपूर्ण आग्रह को ध्यान में रखते हुए पहली मुलाकात संबंधी संस्मरण का एक संक्षिप्त रूप भेज रहा हूं।

"सन् 1916 के दिसम्बर की बात है। मैं, श्री गोरख बाबू वकील, श्री ब्रजकिशोर बाबू वकील तथा अन्य स्थानीय लोगों के साथ कांग्रेस में भाग लेने लखनऊ गया था। विचार यह था कि अपने जिले चम्पारण के किसानों पर गोरे निलहों के अत्याचार, अपमान और उत्पीड़न की कहानी कांग्रेस के शीर्षस्थ नेताओं तक पहुंचायी जाए। यहां यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि ब्रजकिशोर बाबू यदा-कदा दरभंगा से आकर गोरख बाबू के साथ स्थानीय लोगों की मदद निलहों के अत्याचारों के विरुद्ध किया करते थे। निलहों का अत्याचार हम चम्पारणवासियों पर उस समय

अपनी पराकाष्ठा पर था। यहां तक कि बहू-बेटियों की इज्जत दिन-दहाड़े लूट लेना इन निलहों के लिए एक मनबहलाव से अधिक कुछ नहीं महत्त्व रखता था। घर में आग लगवा देना तो एक साधारण बात थी। साधारण लोग तो सदा त्रस्त और भयभीत रहा करते थे।

अस्तु, अपने पूर्व निर्णयानुसार हम लोगों का दल चम्पारण के प्रतिनिधि-स्वरूप चम्पारण की व्यथा छिपाए 23 सितम्बर, 1916 को लखनऊ के लिए प्रस्थान किया। दल में दरभंगा से श्री ब्रजकिशोर बाबू वकील, मोतिहारी से मैं (रामदयाल प्रसाद साह) तथा श्री गोरख बाबू वकील, बेतिया से श्री हरवंश सहाय तथा श्री पीर मुहम्मद मुनीश और नरकटियागंज से श्री संत राउत तथा श्री राजकुमार शुक्ल आदि सम्मिलित थे। श्री राजकुमार शुक्ल सतबरिया के श्री संत राउत के सहायक थे। वे उनके कार्य से यदा-कदा मेरे पास आया करते थे। उस समय सतबरिया का इलाका एमन साहब के क्षेत्र में पड़ता था। एमन साहब अमोलवा का एक क्रूर और कुचरित्र निलहों में से था। उसी ने श्री संत राउत के घर में प्रतिशोध-वश आग लगवा दी थी। इसु दुखड़े के साथ श्री हरवंश बाबू मास्टर के कहने पर श्री संत राउत ने श्री राजकुमार शुक्ल को मेरे पास भेजा था।

हम लोग सुबह की गाड़ी से बगहा होते हुए चले। उन दिनों गोरखपुर के लिए बगहा होकर भी गाड़ी जाती थी। हम लोग गोरखपुर से संध्या समय गाड़ी बदलकर प्रातःकाल लखनऊ पहुंच गए। ठहरने का स्थान कांग्रेस कैम्प जिलानुसार पूर्वनिश्चित था। अतः प्रतिनिधियों के लिए सुरक्षित टेन्ट ठहरने की व्यवस्था सरलतापूर्वक हो गई। दिनभर के काम के पश्चात संध्या समय श्री राजकुमार और मैं अधिवेशन की झांकी लेने के लिए निकले। कुछ आगे बढ़ने पर पूज्य लोकमान्य तिलक जी आते हुए दिखाई पड़े। हम लोग मार्ग में ही उनसे मिले तथा चम्पारण की दुःस्थिति से उन्हें अवगत कराया। परन्तु उन्होंने अपना उद्देश्य सेल्फ गवर्नमेंट लेना बतलाकर तत्काल चम्पारण की सहायता करने में अपनी असमर्थता प्रकट की। आगे बढ़ने पर महामना मालवीय जी के दर्शन हुए। उनसे भी चम्पारण का दुखड़ा कह सुनाया। उन्होंने भी काशी विश्वविद्यालय के झंझटों के कारण समयाभाव बतलाया। पर साथ ही उन्होंने पूज्य बापू

को इन सारी बातों से अवगत कराने के लिए कहा । उनके विचार से वे ही चम्पारण के लिए सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्ति थे । दूसरे दिन तिथि 25 को हम और शुक्ल जी मालवीय जी के निर्देशानुसार गांधी जी से मिलने प्रातःकाल उनके टेन्ट में गए । पहुंचने पर पाया कि गांधी दातुन से मुख धो रहे थे । चेहरे पर शांति और गंभीरता एक साथ विराजमान थी । मेरे लिए वह क्षण अविस्मरणीय है । वही मेरी गांधी जी से पहली मुलाकात थी । यद्यपि मुझे गांधी जी का प्रथम दर्शन तो गत वर्ष ही (1919 ई०) काशी विश्वविद्यालय के शिलान्यास के अवसर पर काशी में हो चुका था; पर यह मेरी उनसे मुलाकात थी । सरिता और सागर का मिलन था ।

प्रकृतिस्थ होने पर मैंने व्यौरेवार अपने जिले की सारी व्यथा कह सुनायी । वे बड़े ही धैर्यपूर्वक सुनते रहे । उनका मुखमंडल पहले से अधिक गंभीर हो गया । मैं अपनी बात समाप्त कर उनकी ओर प्रतिक्रिया के लिए उत्सुक हृदय से देखने लगा । मौन टूटा । व्यथित स्वर में उन्होंने कहा कि तुम लोगों का दुख तुम्हारे कथन से कहीं अधिक जान पड़ता है । हृदय को थोड़ा संतोष मिला । बापू कम-से-कम हम लोगों के दुखों से प्रभावित तो हुए, विश्वास तो किया । उन्होंने पूछा—क्या चाहते हो ? मैंने कहा कि चम्पारण के संबंध में कांग्रेस में एक प्रस्ताव पास करा दिया जाए । पर उन्होंने कहा कि वे स्वयं चम्पारण की स्थिति को देखना चाहेंगे । साथ ही उन्होंने कहा कि अहिंसात्मक ढंग से दुखों का सामना करने पर ही दुखों का अंत होगा । उन्होंने अधिकाधिक चम्पारणवासियों को इसके लिए जेल जाने को तैयार रहने पर जोर डाला । एतदर्थ, मैंने बड़े ही उत्साह से चम्पारण चलने का आमंत्रण किया । इस पर उन्होंने मुझे अप्रैल माह में कलकत्ता बुलाया, क्योंकि अप्रैल में कलकत्ता जाना था । कलकत्ता से ही उनके चम्पारण आने की बात थी ।

अब गांधी जी से चम्पारण आमंत्रण की स्वीकृति पाकर हम लोग फूले नहीं समा रहे थे । ऐसा महसूस होता था कि चम्पारणवासियों का आधा कष्ट उसी क्षण दूर हो गया हो ।

अप्रैल आने पर गांधी जी को लाने के लिए कलकत्ता आना था । बड़ी इच्छा थी कि गांधी जी को अपने साथ लाऊं । परन्तु पारिवारिक

कार्यों की उलझनों के कारण मैं नहीं जा सका। अतः अपने सहयोगी श्री शुक्लजी को सारी व्यवस्था के साथ भेजा जिनके साथ गांधी जी आए और मोतिहारी में ही रहकर उन्होंने चम्पारण के लिए कार्य किया।

मोतिहारी में उनकी सारी व्यवस्था तथा सेवा करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। साथ ही साहू परिवार ने गांधी जी के साथ काफी सहयोग किया। गांधी जी द्वारा चम्पारण में किए कार्यों का वर्णन श्रद्धेय डॉ० राजेन्द्र प्रसाद (भू.पू.राष्ट्रपति) जी ने अपनी पुस्तक में किया है जिससे आप सभी परिचित हैं।

यह है गांधी जी से मेरी पहली मुलाकात की छोटी-सी कहानी जो मेरे लिए बड़े गौरव और अमूल्य निधि के रूप में आज भी मानसपटल पर सुरक्षित है।''

महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारत में पहला सत्याग्रह चम्पारण में निलहों के अत्याचारों के खिलाफ हुआ। रामनवमी बाबू गांधी जी की सेना के एक महत्त्वपूर्ण और सफल सिपाही थे। बापू ने अपनी 'आत्मकथा' में इन महान त्यागी, तपस्वी, कर्मठ, निर्भीक एवं राष्ट्र-प्रेम से ओत-प्रोत व्यक्तियों का स्वयं वर्णन किया है। उन्हीं रामनवमी बाबू की कलम से : ''गांधी जी का दर्शन मुझे पहले-पहल सन् 1916 में लखनऊ कांग्रेस के अवसर पर हुआ था। चम्पारण में उस समय निलहे साहबों के जुल्म से वहां की प्रजा ऊब गई थी। पंडित राजकुमार शुक्ल वहां के एक साहसी गृहस्थ थे जो स्वयं इन कोठीवालों से सताये गए थे। उन्होंने गांधी से भेंट की और चम्पारण की रैयतों की दुखभरी कहानी सुनायी और बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद जी द्वारा उन्हें चम्पारण में आने का आग्रह किया। वहां की प्रजा की हालत सुनकर उनका दिल पिघल गया और उन्होंने अगली अप्रैल तक वहां जाने का वादा किया। यह हाल सुनकर वहां की प्रजा उनके आने के दिन गिनने लगी।

'महात्मा' अपने वादे के अनुसार अप्रैल, 1917 के दूसरे सप्ताह में पटना होते हुए पहले-पहल मुजफ्फरपुर पधारे और यहां श्री जे. वी. कृपलानी के साथ जो उस समय यहां के कॉलेज के प्रोफेसर थे, ठहरे। वहां हम लोग और कुछ वकील महात्मा जी से जाकर मिले और यहां के निलवरों का हाल सुनाया। हम लोगों की बातों को सुनकर महात्मा

जी ने निश्चय किया कि वह शीघ्र से शीघ्र चम्पारण जाकर वहां के निलवरों तथा रैयतों के बीच अनबन तथा उसकी जांच करेंगे। इस संबंध में उन्होंने तिरहुत डिवीजन के कमिश्नर तथा प्लैन्टर्स एसोसिएशन के मंत्री से यहां भेंट की पर उन लोगों ने महात्मा जी को चम्पारण जाने से मना किया। पर इन सब बातों से महात्मा जी विचलित होने वाले न थे। अतः वह 15 अप्रैल, 1917 को मुझे तथा बाबू धरनीधर वकील दरभंगा को अपने साथ लेकर मोतिहारी के लिए रवाना हो गए और वहां जाकर बाबू गोरखप्रसाद वकील के मकान पर ठहरे। वहां पहुंचकर महात्मा जी ने निश्चय किया कि वह हम लोगों को साथ लेकर दूसरे दिन जसौलीपट्टी गांव जाएंगे जहां से निलवरों के अत्याचार की खबर आयी थी। अतएव निश्चित प्रोग्राम के अनुसार हम लोग महात्मा जी के साथ उस गांव के लिए एक हाथी पर रवाना हुए। कुछ ही दूर जाने के बाद जब महात्मा जी एक गांव में उतरकर वहां की प्रजा का हाल सुन रहे थे कि इसी बीच पुलिस के एक दारोगा ने महात्मा को खबर दी कि उन्हें जिला मजिस्ट्रेट ने सलाम किया है। महात्मा जी ने हम लोगों को आवश्यक आदेश देकर आगे बढ़ने को कहा और वह स्वयं दारोगा के साथ एक बैलगाड़ी पर मोतिहारी लौटे। रास्ते में ही उन्हें जिला मजिस्ट्रेट की ओर से एक नोटिस दफा 144 धारा की मिली जिसमें उनको चम्पारण छोड़कर शीघ्र चले जाने का आदेश था। यह नोटिस तिरहुत डिवीजन के कमिश्नर के आदेशानुसार दी गई थी। 'महात्मा जी' ने नोटिस पाकर जिला मजिस्ट्रेट को फौरन उत्तर में लिख भेजा कि वह जिस उद्देश्य से वहां आए हैं उसे छोड़कर नहीं जा सकते हैं तथा इस अवहेलना के लिए जो सजा हो वह भुगतने के लिए तैयार हैं। आखिर उन्हें 144 धारा की अवहेलना के जुर्म में मजिस्ट्रेट के इजलास में ता. 18 अप्रैल, 1917 को हाजिर होना पड़ा। वहां हाजिर होकर वे जुर्म स्वीकार कर उसकी सजा भुगतने को तैयार हो गए। मजिस्ट्रेट महात्मा जी के बयान को सुनकर असमंजस में पड़ गया और उस समय कोई हुकुम न देकर प्रांतीय सरकार से इस विषय में राय पूछी। इस बीच में प्रांत तथा बाहर के भी मुख्य-मुख्य नेता जैसे श्री राजेन्द्र प्रसाद, श्री ब्रजकिशोर प्रसाद, श्री सी.एफ.एंड्रूज, श्री पोलक आदि वहां इकट्ठे हो गए और अपना सहयोग देने के लिए तैयार हो गए।

इधर खबर मिलने पर प्रांतीय सरकार ने मजिस्ट्रेट को मुकदमा उठा लेने का हुकुम देकर उन्हें जांच में हर तरह से मदद देने का आदेश दिया। हम लोगों ने महात्मा जी के साथ लगभग छह महीने तक चम्पारण में रहकर करीब दस हजार रैयतों का बयान दर्ज किया। अंत में सरकार ने एक जांच कमेटी कायम की जिसके एक सदस्य महात्मा जी भी थे। अंत में जांच कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर नया कानून 'चम्पारण एग्रेरियन ऐक्ट' बना जिसके जरिये वहां के रैयतों को हर प्रकार से लाभ मिला और वहां के निलवर एक-एक करके चम्पारण छोड़कर चले गए। यह महात्मा गांधी का भारतवर्ष में प्रथम सत्याग्रह आन्दोलन का फल था, जो स्मरणीय रहेगा।

श्री सरयूप्रसाद पुराने गांधीवादी, रचनात्मक कार्यकर्त्ता, समाजसेवी, स्वतंत्रता-आंदोलन के एक प्रमुख सेनानी, मंत्री, बिहार राज्य, गांधी स्मारक संग्रहालय, मंत्री, गांधी-जन्म शताब्दी-समारोह समिति ने अपना संस्मरण इस प्रकार भेजा था— "साल 1917 का था। महीना और दिन याद नहीं। निलहे कोठीवालों के अत्याचार से पीड़ित चम्पारण के किसानों को त्राण दिलाने के लिए गांधी जी ने जो अपने ढंग का नया, निराला और निर्भीक ढंग सरकारी अधिकारियों के आदेश के विरुद्ध अख्तियार किया उससे बिजली के समान बिहार के कोने-कोने में उनका नाम फैल गया था। दूर-दूर से लोग पगड़ी, मिरजईवाले महात्मा के दर्शन के लिए मोतिहारी में उनके निवास पर भीड़ लगाये रहते थे।

एक दिन पटने में यह खबर पहुंची कि ये महात्मा किसी काम से चम्पारण से पटना होकर अन्यत्र कहीं जाने वाले हैं। दूसरे ही दिन 11 बजे दिन में पटना कॉलेज के हाते में यह समाचार फैल गया कि वह पटना गये और फ्रेजर रोड में हक साहब बैरिस्टर के मकान पर ठहरे हुए हैं। साथ ही यह भी सूचना मिली कि वे तीसरे पहर की गाड़ी से चले जाने वाले हैं। कॉलेज के प्रारंभिक वर्ग इंटरमीडिएट साइन्स का मैं उस समय विद्यार्थी था। अपने साथियों के साथ महात्मा जी के दर्शन की प्रबल इच्छा रखता था। यह अवसर हाथ से निकल न जाय, यह सोच हम लोग पैदल कॉलेज से निकल पड़े। दौड़ते, हांफते, गांधी मैदान पार करते हम लोग हक साहब की कोठी पर पहुंचे।

हक साहब की कोठी की बरसाती के सामने वाली सबजी पर हम लोग बैठ गए। किसी ने जाकर भीतर खबर दी। दो-तीन मिनट में ही पगड़ी और मिरजईधारी महात्मा हम लोगों के सामने उपस्थित हो गए। झुककर हम लोगों ने उन्हें प्रणाम किया। तुंरत एक कुर्सी लायी गई। उस पर हम लोगों के सामने वे बैठ गए। हम लोगों ने बतलाया— हम दर्शनार्थ उपस्थित हुए हैं, सभी पटना कॉलेज के विद्यार्थी हैं।

उस समय पटना कॉलेज के प्रिंसिपल जकसन साहब थे। चन्द मास पूर्व पटना कॉलेज में एक घटना हो गई थी। प्रिंसिपल से अनुमति लेकर पटना कॉलेज के मिन्टो हिन्दू होस्टल के हम विद्यार्थियों ने अनन्त पूजा का समारोह किया था। पूजा के अवसर पर घंटी भी बजी थी। घंटी की बात से प्रिंसिपल साहब रोष में आ गए। उन्होंने कुछ विद्यार्थियों को यह कहकर सजा दी कि उन्होंने पूजा की अनुमति दी थी, न कि घंटी बजाने की। विद्यार्थियों का कहना था कि घंटी बजाना पूजा का ही एक अंग था। पर प्रिंसिपल साहब को यह मान्य नहीं। इधर मुस्लिम होस्टल में कुछ विद्यार्थियों ने सुबह नमाज के समय अजान दिया जिससे भी प्रिंसिपल खफा हुए। इन्हीं बातों को लेकर कॉलेज के विद्यार्थियों ने हड़ताल कर दी थी। हड़ताल शहर के कुछ गणमान्य व्यक्तियों के बीच में पड़ने से समाप्त रखी गई थी। गांधी जी ने हम लोगों से मिलते ही इस हड़ताल के संबंध की सारी बातें जाननी चाहीं। सारी बात संक्षेप में गांधी जी के सामने रखी गई। तब वे जिज्ञासा भरी नजरों से देखते हुए बोले— क्या कुछ पूछना है ?

मेरे मन में कई तरह के प्रश्न उठ रहे थे। मैंने नम्र भाव से संकोच के साथ कहा, "मेरे दो प्रश्न हैं, एक यह कि आप अहिंसा में विश्वास करते हैं, फिर आप यूरोपीय युद्ध में अंग्रेजों की मदद करने के लिए लोगों को रंगरूट में भर्ती होने के लिए क्यों कहते हैं ? दूसरा यह है कि देश के स्वतंत्र हो जाने पर यदि कोई बाहर से आक्रमण हो तो क्या हम अहिंसा से अपने देश की स्वतंत्रता की रक्षा कर सकेंगे ?"

गांधी जी ध्यान से बातें सुन रहे थे। प्रश्न के समाप्त होते ही उनके होंठों पर मुसकराहट दौड़ पड़ी। फिर बोले, "यह ठीक है कि मैं अहिंसा में विश्वास करता हूं, यह भी ठीक है कि मैं लोगों से लड़ाई के लिए

रंगरूट में भर्ती होने की अपील करता हूं, पर यह समझना चाहिए कि यह अपील किनके लिए है। ज्यादा लोग अहिंसा में नहीं, हिंसक प्रतिकार में विश्वास करते हैं जबकि सरकार भीषण युद्ध में फंसी हुई है। कोई कारण नहीं जो अपने विश्वास के अनुसार लोग सरकार की सेना में भर्ती होकर मदद न करें। जो अहिंसा में विश्वास करते हैं उन्हें लड़ाई में भर्ती तो नहीं ही होना चाहिए बल्कि भर्ती होने के लिए उन्हें मजबूर किया जाए तो जो भी सजा इसके लिए उन्हें भुगतनी पड़े उन्हें इनकार करना चाहिए।''

यह वाक्य समाप्त हो ही रहा था कि इतने में एक सज्जन कोठी से आकर बोला, ''गाड़ी का समय हो रहा है, अब हम लोगों को तुरंत स्टेशन चलना है।'' महात्मा फिर एक बार मुसकराते हुए मेरी ओर देखते हुए बोले, ''दूसरे सवाल का जवाब तो बाकी रह गया। अच्छा, फिर कभी आगे मौका मिलेगा तो देखा जायेगा।''

यह है राष्ट्रपिता के प्रथम दर्शन का संस्मरण जो आज भी मेरी स्मृति पर विराजमान है।''

श्री कपिलदेव नारायण सिंह 'सुहृद' जो हमारे बीच नहीं हैं, की राजनीति की सीमा राष्ट्रीय आंदोलनों, जेल के सीखचों और त्याग-वृत्तियों तक रही, उसके बाद उन्होंने संपूर्ण जीवन साहित्य और समाज को अर्पित किया। कहीं गांठ नहीं, हरफनमौला व्यक्तित्व थे।

''जिस समय की बात मैं कर रहा हूं उस समय गांधी का न समुद्र जैसा व्यक्तित्व ही था और न युगव्यापी कृतित्व ही। उस समय वे केवल मोहनदास करमचंद गांधी कहलाते थे। शायद सन् 1917 या 1918 ई० की बात है। उन दिनों मैं अपने घर छपरा में राजपूत हाईस्कूल में पढ़ता था। उन दिनों गांधी जी का नाम वही लोग जानते थे जो कुछ पढ़े-लिखे थे और समाचारपत्रों से सरोकार रखते थे। मेरे बड़े भाई श्री हजारीप्रसाद सिंह अपने साथियों के साथ बैठकर बराबर समाचारपत्र पढ़ा करते थे। उन्हीं लोगों की बातचीत के द्वारा मैंने भी महात्मा गांधी के विषय में कुछ सुना, जाना। अफ्रिका में गांधी जी विजय प्राप्त करके भारत लौटे थे। अंग्रेज़ों के अत्याचार से चम्पारण के लोग घोर कष्ट में थे। 1916 ई० में कांग्रेस का अधिवेशन लखनऊ में हुआ था, उसमें

गांधी जी भी आए थे । चम्पारण के लोग लखनऊ गए और अंग्रेजों के अत्याचारों की कहानी गांधी जी से कही तथा चम्पारण चलने के लिए भी आग्रह किया । गांधी जी ने चम्पारण आना स्वीकार कर लिया । उन दिनों अंग्रेजों के डर से कोई बोलता तक नहीं था, खिलाफत करना तो अलग रहा । गांधी जी चम्पारण गए और अंग्रेजों से राहत दिलाई । उसी काल में सन् 1917 में गांधी जी छपरा आए । छपरा में डाकबंगला के बगल में सामने उत्तर एक बहुत बड़ा दोमंजिला मकान है । उस समय उस मकान में एक कायस्थ कम्पनी खुली थी । वह मकान स्व० सरयू बाबू बैरिस्टर का है । उसी मकान के नीचे बड़े कमरे में दरी जाजीम बिछा हुआ था और दिवाल से सटाकर बड़े-बड़े तकिया रखे हुए थे । उसी मकान में गांधी जी ठहरे हुए थे । वह मकान मेरे डेरा के पास ही था । उसी रास्ते से मैं अपने साथियों के साथ स्कूल जा रहा था । वहीं पर पता चला कि गांधी जी आए हैं और आज तीन बजे मठिया वाला मैदान में भाषण देंगे । मैं स्कूल चला गया और स्कूल जाकर अपने कुछ साथियों के साथ छुट्टी लेकर गांधी जी को देखने चला गया । उसी नीचे वाले कमरे में गांधी जी फर्श पर बैठकर दो-चार लोगों से बातें कर रहे थे । हम लोग भी जाकर गांधी जी के बगल में बैठ गए । गांधी जी खादी की धोती, मिरजई और एक बहुत बड़ा मुरेठा बांधे हुए थे । देखने में महज एक देहाती जैसे लगते थे । गांधी जी ने हम लोगों से एक-एक कर नाम और पढ़ने का पता पूछा । और क्या-क्या पूछा, याद नहीं है । कुछ देर बैठने के बाद हम लोग वहां से चल दिए । जब तक उनके पास हम लोग बैठे रहे, ऐसा मालूम होता था कि अपने घर के किसी बड़े-बूढ़े के पास बैठे हैं । इतना अपनापन मालूम होता था कि उसका वर्णन करना असंभव है । एक घंटा के बाद वहां से हम लोग प्रणाम करके चले आए । तीन बजे से जेल के पास वाले मठिया के छोटे से मैदान में मीटिंग होने वाली थी । समय पर हम लोग पहुंचे ।

वहां पर एक छोटा-सा लेकिन ऊंचा मंच बना हुआ था । उस पर दो कुर्सियां रखी हुई थीं । गांधी जी उसी वेशभूषा में आए जिसमें पहले लोगों ने देखा था और उनके मजरूलहक साहब आए, काली सिरवानी, लम्बा खड़ा टीक वाला पाजामा, लाल रंग की टर्की टोपी पहने हुए ।

एक कुर्सी पर बैठे और दूसरे पर हक साहब। हक साहब खड़े हुए और गांधी जी का परिचय दिया। उसके बाद गांधी जी का भाषण हुआ। गांधी जी ने कहा था कि हम लोग ईश्वर के अंश हैं। हम लोगों को अत्याचारियों से डरना नहीं चाहिए। पर्दा के विषय में भी कुछ कहा था। उन दिनों गांधी जी हिन्दी ठीक से नहीं बोल सकते थे लेकिन फिर भी भाषण दिया हिन्दी में ही। उनकी वेशभूषा तथा उनके सारगर्भित भाषण का जनता पर काफी प्रभाव पड़ा। सभा में लगभग दो हजार आदमी आए होंगे। उसके बाद से तो हजारों बार गांधी जी को देखने का मौका लगा। साथ रहने का सौभाग्य तक प्राप्त हुआ।

"हिन्दू विश्वविद्यालय में घुसते ही द्वार पर अंग्रेजी में हिन्दू विश्वविद्यालय पाया, कहीं हिन्दी का नाम-निशान नहीं था। कम से कम छोटे से ही रूप में होता। मालवीय जी महाराज के विश्वविद्यालय में तो बेचारी हिन्दी को कोई स्थान मिलता।"

दूसरी चुटकी वहां दो घंटे से बोल रहे देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधियों पर लेते हुए वे बोले— "यहां दो घंटे के भाषण से मुझे ऐसा लगा कि जैसे मैं इंग्लैंड में बैठा हूं। यदि हिन्दी से विरोध हो या न आती हो तो अपनी मातृभाषा में ही बोलते।"

यह था मेरा गांधी जी का प्रथम दर्शन। गांधी जी के इस प्रथम दर्शन की मेरे मन पर वही छाप पड़ी जैसे मैं ज्वालामुखियों के पुंज को समेटे हुए एक हिमशिखर शैल शिखा को देख रहा हूं। जिस ज्वालामुखी के दर्शन 42 में सारे देश को मिले, उसका पहला बोध जैसे मुझे इसी पहली झलक में हो गया था।"

गांधी जी को देखने का हक (अधिकार) हर किसी को था। विशम्भर बाबू पटना के एक विशिष्ट नागरिक थे जिनका सौभाग्य रहा है कि गांधी जी 1917 में एक घंटे तक इनके दरवाजे में ठहरे थे।

"सन् 1917 में महात्मा गांधी चम्पारण जाने के लिए पटना आए थे और हसन साहब के निवासस्थान पर ठहरे थे। एक दिन पं० बाल गोविन्द मालवीय उन्हें अपना 'बराह मिहिराचार्य पुस्तकालय' दिखाने ले आए। हीरानंद शाह की गली में यह पुस्तकालय था और उसी गली के शेष में गंगातट पर मेरा घर था। जब वे पुस्तकालय का निरीक्षण

कर चुके तो किसी ने कहा कि गंगा जी बहुत निकट है। वे गांधी जी का दर्शन करने घाट पर गए। जब लौटने लगे तो बूंदाबांदी होने लगी और हवा भी बहुत जोर की बहने लगी। लोगों ने मेरे घर पर कुछ देर ठहर जाने की बात कही और वे उस बड़े कमरे में बैठाए गए जिसमें मेरे पिता स्वर्गीय रायसाहब नारायणप्रसाद वकील अपना आफिस करते थे। मुझे इनसे पूछने और बात करने का साहस नहीं हुआ, लेकिन पं० प्रतापनारायण वाजपेयी दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार करने चले गए थे। महात्मा गांधी प्रायः एक घंटा ठहरे थे।"

तब याद कौन रखेगा !

'नहीं, शंकरदयाल जी, मैं कभी भी चम्पारण का नाम बदलकर बेतिया और मोतिहारी नहीं होने दूंगा। मर जाऊंगा, तब मेरी लाश पर यह नाम होगा। केदार पांडे अपने को समझते क्या हैं ? जिला को बांट देंगे तो क्या नाम को भी उड़ा देंगे !' सत्तर-पचहत्तर साल की अपनी उम्र को परे ढकेलते हुए वयोवृद्ध कांग्रसी तथा निर्मल गांधीवादी और तत्कालीन संसद सदस्य पं० विभूति मिश्र ने मुझसे ये बातें कही थीं, जो आज भी रह-रहकर याद आती हैं।

हुआ यह था कि श्री केदार पांडे जब मुख्यमंत्री बने तो उन्होंन एक अच्छा निर्णय लिया कि बिहार में बड़े-बड़े जिले हैं, इससे बिहार को भरपूर केन्द्रीय वित्तीय सहायता भी नहीं मिल पाती है, अतः जो बड़े जिले हैं, उनका विभाजन जरूरी है। और इस प्रकार बिहार जो 16 जिलों का प्रांत था, एकबारगी केदार पांडे के मुख्यमंत्री-काल में 32 जिलों का हो गया।

जब मूल जिलों के टुकड़े होने लगे, तो नाम का प्रश्न भी आया। मुख्य तौर से जो शहर जिस जिले के मध्य में पड़ा, उसको ही जिला मुख्यालय बनाकर वही नाम दे दिया गया, जैसे– नवादा जिला, औरंगाबाद जिला, कटिहार जिला, मधुबनी जिला आदि और उसी क्रम में यह फैसला हुआ कि चम्पारण को भी दो खंडों में विभाजित किया जाय– मोतिहारी और बेतिया।

इसी को लेकर वहां तूफान उठ खड़ा हुआ और पं० विभूति मिश्र जैसे पुराने गांधीवादी और कांग्रेसी तमतमाकर खड़े हो गये– 'चम्पारण के नाम कइसे बदलाई ? भला ई ऐतिहासिक जिला बा, जहां गांधी जी

के सत्याग्रह के सुरआत भईल । दुनिया गांधी जी के चम्पारन नांव से जानेला। अउर ऊ चम्पारन के नाम केदार पांडे बदल ही हैं । विभूति मिसिर के लास उठी तब जाके ई होई ।'

ऐसी ही भावनाएं सभी कोनों से आने लगीं तथा गांधी का जिला चम्पारण अपना अस्तित्व इतिहास में खो न दे, इसके लिए आंदोलन, जागरण, बातचीत सब कुछ की शुरुआत हो गयी और अंत में जाकर यह तय पाया गया कि इसे दो हिस्सों में बांटा जाये जरूर लेकिन दोनों का नाम चम्पारण ही रहेगा– 'पूर्वी चम्पारण' और 'पश्चिमी चम्पारण', जिससे इतिहास जाने और पहचाने कि यह वही जिला है, जहां मोहनदास करमचंद गांधी ने 1917 में नीलहों के अत्याचारों के खिलाफ सत्याग्रह की शुरुआत की थी, सोये तथा मुर्दा हड्डियों के ढांचे में अतुलित साहस और बल भर दिया था ।

श्री केदार पांडे भी स्वयं चम्पारण के ही थे तथा स्वतंत्रता-संग्राम के सिपाही थे अतः उनके अन्दर भी यह पिपासा थी कि चम्पारण नाम इतिहास से हट न जाये । अतः 1973 में पूर्वी और पश्चिमी चम्पारण, पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी के समान अस्तित्व में आया । पूर्वी का जिला मुख्यालय मोतिहारी है तथा पश्चिमी का बेतिया ।

और आज चम्पारण का नाम जो सबसे मूर्त रूप से जगजाहिर है, वह है यह कि यह क्षेत्र मिनी-चम्बल के नाम से अखबारों की सुर्खियों में नाम कमा रहा है, हर जगह 'कोट' किया जा रहा है तथा बार-बार इस तरह के उल्लेख आ रहे हैं कि यहां दस्युओं के अनेक गिरोहों ने अपना ऐसा साम्राज्य बना लिया है जिसके आग सरकार भी नतमस्तक है ।

प्रधानमंत्री राजीव गांधी एक बार जब चुनाव-सभाओं के सिलसिले में वहां पहुंचे तो 'त्राहि-त्राहि' करते हुए नागरिकों ने उनसे भिक्षा मांगी कि बिहार सरकार कुछ नहीं करेगी, आप ही कुछ करें ।

और पंजाब तथा आसाम की समस्याओं को चुटकी बजाकर सुलझाने वाले प्रधानमंत्री ने बिहार के मुख्यमंत्री श्री विन्देश्वरी दुबे को निर्देश दिया कि यह शिकायत आगे मेरे कान में नहीं आये । दुबेजी ने मुख्यमंत्री होने

के बाद अपनी छवि को प्रशस्ति देने की फिराक में चम्पारण-समस्या को भी प्रधानता देने की घोषणा की और कुछ ही दिनों में सरकारी घोषणा हुई। इसके लिए 'ब्लू-स्टार' के समान ही योजना बनी है। पहले श्री रामचन्द्र खान और बाद में श्री ज्योतिकुमार सिन्हा का नाम पुलिस के वरिष्ठ अधिकारियों के रूप में जुड़ा। जनता को भरोसा हुआ कि अब बात कुछ बनेगी। कुछ कारगर कार्य आरंभ भी हुए, मुठभेड़ें तथा वारदातें भी हुईं, लेकिन फिरौती, अपहरण और लूट-हत्या की घटनाओं में कमी नाममात्र को ही हुई, संतोषजनक तनिक भी नहीं। इधर पुनः बिहार सरकार ने श्री रामचन्द्र खान के नाम के दबदबे को मद्देनजर रखते हुए उसका सहारा लिया और दोनों चम्पारणों को मिलाकर एक नयी पुलिस-रेंज का रूप दिया है। इसकी परिणति क्या होती है, यह देखना है।

लेकिन यह तो हुआ संदर्भ, जिसकी व्याख्या अब करूंगा। यह प्रसंग पैदा हुआ है इस शीर्षक के साथ कि यदि चम्पारण ने भी गांधी को भुला दिया तो कौन याद करेगा! यह सही बात है। इतिहास साक्षी है कि गांधी जी के चम्पारण-आगमन तथा उनके सत्याग्रह-संघर्ष के बाद भारतीय राजनीति में एक नया सूत्र जुड़ा और नये नायक के रूप में गांधी भारतीय जागरण के क्षितिज पर आ गए तथा छा गए। चम्पारण का नाम गांधी जी के कारण हुआ तथा गांधी जी का नाम चम्पारण ने विख्यात किया। जिस मोहनदास करमचंद गांधी ने अपने अहिंसात्मक सत्याग्रह की शुरुआत की, वे कुछ ही वर्षों में महात्मा गांधी के नाम से विभूषित हुए। और तिलक हों या मोतीलाल नेहरू, सी० आर० दास हों या सत्यमूर्ति और मदनमोहन मालवीय हों या लाला लाजपत राय, सुभाषचन्द्र बोस हों या सरदार वल्लभभाई पटेल– हर किसी ने चाहे-अनचाहे रूप से स्वीकार किया कि गांधी ही वह व्यक्तित्व हैं, जिनके हाथ में कांग्रेस तथा देश की लगाम देकर स्वतंत्रता का अभिषेक हम कर सकते हैं।

गांधी की उस शुरुआत का साक्षी आज भी चम्पारण है, जहां पग-पग पर गांधी की याद किसी सेवाग्राम और साबरमती के समान बिखरी हुई है। भितिहरवा आश्रम, अनेक किसानों के घर, जमींदारों की कचहरियां,

हजारीमल की धर्मशाला का नीम का पेड़– सबों को अब तक गांधी की याद सताती है, लेकिन संपूर्ण चम्पारण, जिस पर गांधी को गर्व था और चम्पारण को गांधी पर अभिमान– वे एक-दूसरे को भूलते जा रहे हैं । और इसलिए मैं यह कह रहा हूं कि कोई आज भी जाकर देखे उस हजारीमल की धर्मशाला को, जहां रहकर गांधी जी ने सत्याग्रह-आंदोलन का संचालन किया, तो वह रोता हुआ नजर आएगा ।

चारों ओर जमी हुई काई, लेहड़ों से भरे हुए उसके बरामदे, वर्षों से किसी ने झाड़ू नहीं दी हो ऐसी फर्श, अब गिरी कि तब गिरी जैसी दीवारें, किस्मत को रोती हुई-सी छतें और देखने वालों पर तरस खाती हुई वहां की चप्पा-चप्पा जमीन ! भारत सरकार हो या बिहार सरकार, गांधी शताब्दी का वर्ष हो या गांधी के नाम पर अक्षुण्ण संपत्ति के अधिकारी यहां के बड़े लोग-बाग, यहां के मंत्री या जन-प्रतिनिधियों से जरखेज जमीन के मालिक– कोई भी क्यों न हो, किसी ने नहीं देखा गांधीवाद के इस जनक मंदिर को, जिस पर इतिहास इतराएगा , लेकिन भावी पीढ़ियां कलपेंगी !

राजकुमार शुक्ल, चम्पारण की मिट्टी क़े ही एक निरीह किसान और छोटे कांग्रेस-कार्यकर्त्ता, जो गांधी जी को निमंत्रित कर चम्पारण ले आये, उनके लिए भी कहीं कुछ ऐसा नहीं किया गया, जिससे यह धरती उन्हें भी याद रख सके । 1969 में गांधी-शताब्दी वर्ष को प्रतीकित करते हुए मोतिहारी में एक 'गांधी स्मारक स्तंभ' का निर्माण किया गया, लेकिन वहां जाने पर ऐसा भान होगा मानो किसी श्मशानभूमि में आ गये हों। तार-बेतार फेंसिंग, उजड़े-बिखरे पेड़-पौधे—कहीं भी जीवन्तता नहीं, सफाई नहीं, पानी-फूल नहीं; बस एक उजाड़ 'गांधी स्मारक स्तंभ' । संभव है कि अशोक के लौरिया नन्दन लाट के समान, जो इस जिले के लौरिया नामक स्थान में है, लोग इसे भी देखें और शिलालेख को पढ़ें, लेकिन वह लाट तो दो हजार वर्षों से खड़ा भी है, इसकी जिन्दगी बमुश्किल दस-बीस-पचास साल हो, क्योंकि इसे जिस ठेकेदार ने बनाया होगा, निश्चित ही उसमें सीमेंट की मिलावट उसी मात्रा में की होगी, जैसा कि

अमूमन आज बिहार के अन्य भवनों में हो रहा है और इंजीनियर को उसने उसका कमीशन दे दिया होगा ।

इसके अतिरिक्त यहां आने वाला यात्री यदि गांधी से कहीं मिलना चाहे, उन्हें कहीं खोजना चाहे, उन्हें मलबे से कहीं निकालना चाहे तो कहां जायेगा, यह बात समझ में नहीं आ रही है । जहां के नागरिकों को गांधी ने इस योग्य बनाया था कि ब्रिटिश साम्राज्य के सामने वे तनकर खड़े हो सकें, वहीं आज यहां का आदमी नेमा यादव का नाम सुनते ही कांपने लगता है । आज कौन गांधी आयेगा अब इनके लिए ?

इसलिए प्रत्यक्ष है कि जिस भांति देश गांधी को भूल रहा है, इसी तरह चम्पारण भी इस बात को भूलता जा रहा है कि यही वह भूमि है, जहां गांधी जी ने अपने सत्याग्रह की शुरुआत की थी, अपनी पहचान बनायी थी तथा पूरे विश्व में चम्पारण का नाम पहुंचा दिया था ।

18 अप्रैल, 1917 का दिन । मोतिहारी कोर्ट । गांधी जी वहां मजिस्ट्रेट के सामने हाजिर । उन पर इल्जाम है कि उन्हें ब्रिटिश सरकार ने चम्पारण जिला तत्काल छोड़कर चले जाने के लिए नोटिस जारी की थी, उसका उन्होंने यहां रहकर उल्लंघन किया, इसलिए दोषी हैं । जरा आप भी इसकी झांकी लें—

मजिस्ट्रेट ने कहा– यदि अब भी आप जिले से बाहर चले जायें और वचन दें कि फिर लौटकर न आयेंगे तो आपके विरुद्ध लगाया गया आरोप वापस ले लिया जाएगा ।

गांधी जी ने जोर देते हुए कहा– कभी नहीं हो सकता है । केवल इसी वक्त क्या, मैं तो जेल से लौटने पर भी चम्पारण को अपना घर बनाऊंगा ।

गांधीवाद के बुनियादी सिद्धान्तों में सत्य, अहिंसा, निर्भयता, अपरिग्रह आदि को गांधी जी ने सूत्रबद्ध किया था । चम्पारण, जिसके लिए गांधी जी ने कहा कि यहीं अपना घर बनाऊंगा और बना भी, कारण उन्होंने केवल आश्रम बनाये, घर नहीं बनाया, आज वही चम्पारण गांधी तथा उनके सिद्धान्तों से कितनी दूर चला गया है ।

गांधी जी की हत्या 30 जनवरी 1948 को हुई थी । उनकी हत्या ने एक संदेश इस धरती को जरूर दिया था कि मानवता की राह खून के छींटे नहीं है । दुःख है तो यही कि चम्पारण ने भी उस संदेश को नहीं सुना और गांधी की याद कहीं इस धरती-खंड से लुप्त न हो जाये, इसके लिए वहां आंदोलन छिड़ गया कि जिला का नाम चम्पारण ही रहेगा– गांधी का चम्पारण ! लेकिन वह चम्पारण भी आज यदि गांधी को भुला देगा तो याद कौन रखेगा ?

मैं यह सवाल अपने आपसे पूछ रहा हूं जो गांधीजी की हत्या के दिन को उपवास रखकर प्रायश्चित दिवस के रूप में मनाता है !

श्री रामचन्द्र खान से पूछ रहा हूं, जिनके ऊपर आज चम्पारण की शांति का भार दिया गया है ।

श्री राजीव गांधी से पूछ रहा हूं, जिनके सामने वहां की जनता ने चिरौरी की थी ।

गांधी ने कहा – 'करो या मरो'

गांधी को समझना हो तो अगस्त क्रान्ति को समझिए और अगस्त क्रांति को समझना हो तो गांधी को समझिए ।··· यह बात मेरे मन में बार-बार आती है, जिसे मैं कई दृष्टिकोणों से देखने का प्रयास करता रहा हूं । इसमें दो राय नहीं हैं कि भारत के स्वतन्त्रता संग्राम और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सौ वर्षों के इतिहास में छोटी-बड़ी कम से कम सौ ऐसी घटनाएं जरूर घटी हैं, जिनका उल्लेख इतिहासकार कर सकते हैं । लेकिन उन सबके केन्द्रबिन्दु के रूप में यदि किसी एक घटना को रखा जा सकता है तो वह है 1942 की अगस्त क्रान्ति, जिसके मसीहा थे महात्मा गांधी ।

8 अगस्त, 1942 की रात को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित किया, जिसमें कहा गया था, "यह कमेटी पूरे आग्रह के साथ हिन्दुस्तान से अंग्रेजी सत्ता हटाने की मांग को दुहराती है । हिन्दुस्तान की आजादी की घोषणा हो जाने पर एक अन्तरिम सरकार कायम कर दी जाएगी ।'

प्रस्ताव पारित होने के बाद गांधी जी ने अपना मुंह खोला और पहले एक घंटा हिन्दी में और उसके बाद एक घंटा अंग्रेजी में बोले । उन्होंने साफ कहा, "आजादी के स्पर्श बिना करोड़ों जनता के दुनिया की मुक्ति के यज्ञ में दिल से भाग लेने की और क्या कोई रीति हो सकती है ? आज तो जनता के प्राण शोषित हो गए हैं, पीस दिए गए हैं । उनकी निस्तेज आंखों में तेज लाना हो तो आजादी कल नहीं, आज ही आनी चाहिए । इसी से मैंने आज कांग्रेस से यह बाजी लगवाई है–या तो कांग्रेस देश को आजाद कराएगी अथवा खुद फना हो जाएगी–करेंगे या मरेंगे !"

बाद के दिनों में कांग्रेस के इस प्रस्ताव और महात्मा गांधी के भाषण पर दो नारे जन-जन के होंठों पर थिरक उठे–'अंग्रेजो, भारत छोड़ो' और 'करो या मरो'।

अब आइए, अगस्त क्रान्ति की पृष्ठभूमि और गांधी जी की यंत्रणा पर यहां कुछ विस्तार से विचार करें। 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध की आग भड़क उठी और साल-दो साल के अन्दर दुनिया के अधिकांश देश इस या उस खेमे में शामिल हो गए–कुछ स्वेच्छा से और कई अनिच्छा और मजबूरी से। भारत की गुलाम जनता की ओर से अंग्रेजों ने यह घोषणा कर दी कि भारत मित्र-राष्ट्रों के साथ है तथा यहां की गरीब जनता के पैसों से लड़ाई की आग में आहुति देने का काम जोर-शोर से शुरू कर दिया। गांधी जी ने इसका विरोध किया। उनका तर्क था कि गुलाम देश की प्रजा में लड़ाई के सम्बन्ध में निर्णय करने का मनोबल कहां है और यदि अंग्रेज भारत की प्रजा की ओर से भारत को युद्ध में झोंकते हैं, तो यह उनका सरासर अन्याय है।

अंग्रेजों ने तथा उनके साथियों ने बार-बार यह विश्वास दिलाने की कोशिश की कि युद्ध समाप्त होने के दो वर्ष बाद हम यहां से चले जाएंगे; लेकिन कांग्रेस और गांधी जी को तसल्ली नहीं हुई। कांग्रेस के अन्दर अनेक सुलझाववादियों ने महासमिति को यह समझाने का यत्न किया कि अभी जब अंग्रेज महायुद्ध में बुरी तरह उलझे हुए हैं, उन पर अनुचित दबाव न डाला जाए। तभी गांधी जी ने अडिग होकर अपनी बात कही—यही तो असली समय है, उनके लिए भी और हमारे लिए भी।

कम्युनिस्टों ने उस समय कांग्रेस की इस मांग का विरोध किया और द्वितीय महायुद्ध में अंग्रेजों के साथ मित्र-राष्ट्रों के सहभाग को सही बताते हुए इसे 'जनता का युद्ध' करार दे दिया। लेकिन गांधी जी अपने जीवन में संभवतः पहली बार आक्रामक हो गये थे और उनका यह दृढ़ विश्वास था कि अंग्रेजों को यदि इस समय भारत छोड़ने के लिए विवश नहीं किया गया, तो फिर ऐसा सुनहरा अवसर नहीं आएगा। उन्होंने कहा–"अब बीच में समझौता नहीं है। मैं नमक की सुविधाएं या शराबबन्दी लेने को नहीं जा रहा हूं। मैं तो एक ही चीज़ लेने जा रहा हूं– आजादी। नहीं देना है, तो कत्ल करें। मैं वह गांधी नहीं जो बीच में ही कुछ चीज़

लेकर आ जाए। आपको तो मैं एक मन्त्र देता हूं—करेंगे या मरेंगे। जेल को भूल जाएं। आप सुबह-शाम यही कहें कि खाता हूं, पीता हूं, सांस लेता हूं तो गुलामी की जंजीर तोड़ने के लिए। जो मरना जानते हैं, उन्हीं ने जीने की कला जानी है। आज से तय करें कि आजादी लेनी है। नहीं लेनी है, तो मरेंगे। आजादी डरपोकों के लिए नहीं। जिनमें करने की ताकत है, वही जिन्दा रह सकते हैं। हम चींटियां नहीं। हम हाथी से भी बड़े हैं, हम शेर हैं।''

गांधी जी के 8 अगस्त, 1942 की रात के भाषण का यह अंश द्योतित करता है कि गांधी जी कहां से कहां पहुंच गए थे। असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन, नमक सत्याग्रह और उपवास के प्रयोगों से गुजरते हुए गांधी जी एक मंजिल पर पहुंच गए थे।

1939 में जब द्वितीय महायुद्ध की शुरुआत हुई, उसी समय से गांधी जी ने अपना ताना-बाना बुनना शुरू कर दिया था। लेकिन कांग्रेस के अधिकांश नेताओं को यह समय नया संघर्ष छेड़ने के लिए किसी तरह भी उपयुक्त नजर नहीं आ रहा था। इसका नतीजा यह हुआ कि बनियादी और गैरबुनियादी मुद्दों पर गांधी जी तथा अन्य नेताओं में मतभेद होते गए और 21 जून, 1940 को वर्धा में कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक ने यह फैसला किया कि अहिंसा के मामले में वह गांधी जी के साथ पूरी तरह नहीं जा सकती।

गांधी जी ने इस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की, "इस परिणाम पर मुझे खुशी भी है और विषाद भी। खुशी इसलिए कि मैं इस विच्छेद का आघात सह सका हूं और मुझे अकेला खड़े रहने की शक्ति मिली है। विषाद इसलिए कि इतने वर्षों तक जिन लोगों को साथ लेकर चलने का मुझे गौरव मिला था, उन्हें साथ लेकर चलने का सामर्थ्य अब मेरे शब्दों में नहीं प्रतीत होता है।''

इसके पीछे बात यह थी कि श्री राजगोपालाचारी ने गांधी जी से अलग प्रस्ताव रखा था और उसे कार्यकारिणी के अधिकांश सदस्यों ने अपनी सहमति दी। यहां तक कि वल्लभभाई पटेल जैसे गांधी-शिष्य ने भी गांधी मत से पृथक् सहमति दी। मात्र खान अब्दुल गफ्फार खां गांधी जी के पक्ष में रहे।

कांग्रेस के नेताओं को यह विश्वास था कि अभी अंग्रेजों से मिल-मिलाकर ही हम कुछ ले सकते हैं, सो बिगाड़ क्यों करें। जवाहरलाल कुछ तटस्थ थे। लेकिन बाद के दिनों में चर्चिल ने अपनी भारत-विरोधी नीतियों के द्वारा बहुतों की आंखें खोल दीं तथा 1942 में पुनः कांग्रेस गांधी जी के पास लौट आयी। हर किसी ने यही महसूस किया कि गांधी का कोई विकल्प नहीं है—वे जो कहें मान लो।

मार्च'42 में ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि सर स्टैफर्ड क्रिप्स भारत जायेंगे और वहां भारतीय नेताओं से मिलकर कुछ विशेष घोषणा करेंगे। क्रिप्स आए और इसके साथ आशा का कुछ संचार भी हुआ। उनके बुलावे पर गांधी जी 27 मार्च' 42 को दिल्ली में उनसे मिले। क्रिप्स ने जब ब्रिटिश सरकार का प्रस्ताव गांधी जी के सामने रखा तो उन्होंने बड़ी नम्रता, लेकिन दृढ़ता के साथ क्रिप्स से कहा, "यदि आपके पास देने के लिए यही था, तो फिर आप आये ही क्यों ? यदि भारत के लिए आपका समूचा प्रस्ताव यही है, तो मैं आपको सलाह दूंगा कि अगले वायुयान से घर लौट जाइए।'

गांधी जी के इन वाक्यों से यह साफ जाहिर होता है कि वे किसी बड़े अभियान की योजना मन ही मन बना रहे थे। अन्त में वह जाहिर हुआ 6 जुलाई को, जब वर्धा में कांग्रेस की कार्यकारिणी ने उनका 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो' का प्रस्ताव मान लिया। गांधी जी की राय से उसे महासमिति के सामने रखने के लिए 7 और 8 अगस्त, 1942 को बम्बई में कांग्रेस कमेटी की बैठक बुलाई गई।

जवाहरलाल नेहरू और सरदार वल्लभभाई पटेल भी अब इस बात से पूरी तरह सहमत थे कि जो भी हो सकता है वह गांधी जी के नेतृत्व में ही हो सकता है और उसके सिवा कोई चारा नहीं है। अतः महासमिति के सामने जो प्रस्ताव आया, उसे जवाहरलाल जी ने पेश किया तथा वल्लभभाई ने उसका अनुमोदन किया। उसके बाद गांधी जी बोले, जिसमें शायद पहली बार उन्होंने आक्रामक भूमिका अपनायी और हर वर्ग को उन्होंने अलग-अलग संदेश दिया। छात्रों, किसानों, सरकारी कर्मचारियों, जमींदारों, पूंजीपतियों, बुद्धिजीवियों, राजाओं–किसी को भी उन्होंने बाद नहीं किया और अन्त में यह कहा :

"बाईस वर्षों तक बोलने-लिखने में मैंने संयम रखा है, ताकत इकट्ठी की है। जो अपनी ताकत हमेशा खर्च नहीं करता, वह ब्रह्मचारी–पाकदामन कहा जाता है। वह हमेशा जीभ पर काबू रखकर दबी जबान से बोलेगा। जिंदगी-भर मेरा प्रयत्न इस दिशा में रहा है। फिर भी आज इतने सारे लोगों को, इतनी रात तक रोके रखकर, आपके ऊपर जबरदस्ती करके भी मुझे आज आपको जो कहना चाहिए था, वह कह दिया। उसका मुझे पश्चाताप नहीं है। आपकी मार्फत सारे हिन्दुस्तान को कह दिया।"

1942 की अगस्त-क्रांति में सबसे बड़ी बात जो मुझे दिखाई देती है, वह यह है कि गांधी जी ने इसे मात्र कांग्रेस का कार्यक्रम नहीं बनने दिया, वरन पूरे देश का कार्यक्रम बनाया। और यह भी एक अजीबोगरीब बात है कि इतना बड़ा आंदोलन छिड़ गया, लेकिन गांधी जी ने कोई भी कार्यक्रम नहीं दिया। नतीजा यह हुआ कि 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो' तथा 'करो या मरो' के आह्वान पर हर वर्ग के लोगों ने इसे अपनाया तथा जिसके जी में जो आया, उसने वही किया। किसी ने तार तोड़े, किसी ने थाने में आग लगायी, किसी ने डाकखाने को लूटा, किसी ने सरकारी भवन पर झण्डा फहराया, किसी ने अंग्रेजों को घेरकर मार दिया, किसी ने कोर्ट-कचहरी पर अधिकार जमा लिया, कहीं पर सरकारी खजाने पर धावा बोला गया। इस तरह हम पाते हैं कि अगस्त-क्रांति गांधी-युग के अन्य तमाम आन्दोलनों से अनूठी है।

किसी ने उसका नेतृत्व नहीं किया और न किसी ने उसे दिशा दी। कांग्रेस का प्रायः हर छोटा-बड़ा नेता 8 की रात या 9 की सुबह जो जहां था, वहीं पकड़ लिया गया। किसी को एक दिन आगे की बात कहने तक की मोहलत नहीं मिली। गांधी जी ने 8 की रात में भाषण दिया, 11 अगस्त तक वे कार्यक्रम स्पष्ट करने वाले थे। लेकिन 9 को सूर्योदय से पहले ही वे जेल के अन्दर थे।

गांधी की सबसे बड़ी सफलता यह थी कि उन्होंने कार्यक्रम न देकर और सिपहसालार की नियुक्ति न करके जनता को यह अहसास दिलाया कि जो वह चाहे वही कार्यक्रम होगा और जो तिरंगा थाम ले, वही सेनापति। अपूर्व जागरण हुआ। स्कूल-कॉलेज-कचहरी-गांव-शहर–हर जगह क्रान्ति की बेमिसाल मशाल जल उठी।

ब्रिटिश सरकार ने इसके लिए गांधी जी को दोषी माना। तत्कालीन वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने गांधी जी को आगा खां पैलेस जेल में पत्र भेजा, "मुझे गहरा दुःख है कि आपने इस हिंसा और अपराध की निंदा में एक शब्द भी नहीं लिखा।"

गांधी जी ने तत्काल उत्तर दिया, "9 अगस्त के बाद की घटनाओं के लिए मुझे खेद अवश्य है, किन्तु क्या इसके लिए मैंने भारत सरकार को दोषी नहीं ठहराया है ? इसके अलावा, जिन घटनाओं पर मेरा न तो प्रभाव है और न काबू तथा जिनके बारे में मुझे केवल इकतरफा बयान मिला है, उन पर मैं कोई मत प्रकट नहीं कर सकता। मुझे विश्वास है कि यदि आप हाथ नहीं उठाते और मुझे मुलाकात का मौका देते, तो परिणाम अच्छा ही निकलता।"

गांधी जी ने सरकार पर यह इल्जाम भी लगाया, "सरकार ने ही जनता को उभारकर पागलपन की सीमा तक पहुंचा दिया है।"

इस सम्बन्ध में लुई फिशर ने अपनी पुस्तक 'गांधी की कहानी' में बिलकुल सही लिखा है, "गांधीजी का मिजाज भी लड़ाकू हो रहा था। रंगमंच पर छा जाने की अदम्य क्षमता से, कारावद्ध महात्मा जी का व्यक्तित्व आगा खां के सुनसान महल की दीवारों को तोड़कर बाहर निकल गया और उसने पहले तो ब्रिटिश सरकार के दिमाग को और फिर भारतीय जनता के दिमाग को घेर लिया।"

इसमें कोई शक नहीं कि अगस्त-क्रान्ति ने ब्रिटिश सरकार को हिला कर रख दिया, जिससे द्वितीय विश्वयुद्ध में विजय के बाद भी हताश और तबाह तथा आर्थिक दृष्टि से छिन्न-भिन्न ब्रिटिश साम्राज्य भारत से पलायन के लिए रास्ता ढूंढने लगा।

1942 का जनजागरण सही मानो में जनता के संकल्पों को द्योतित करता है। उसकी सबसे बड़ी सफलता यह है कि गांव की मेंड़ पर काम करने वाले किसान तथा कॉलेज में पढ़ने वाले छात्र तथा उन्हें पढ़ाने वाले शिक्षक–सबने एक साथ और एक-सी तीव्रता से महसूस किया कि यह लड़ाई हमारी है और हमें इसमें कुछ करना है। क्या करना है, यह उन्हें पता नहीं था, सिवा इसके कि गांधी जी ने कहा है–करो या मरो। और इस आह्वान पर हजारों लोग हंसते-हंसते कुरबान हो गए।

लेकिन दूसरी ओर इतना बड़ा जन-आन्दोलन पूर्णतया अस्तव्यस्त और विफल रहा–इस मानी में कि इसके लिए न तो कोई निर्धारित कार्यक्रम था और न कोई नेतृत्व ही। जयप्रकाश जी ने इन खामियों की ओर उस समय भी ध्यान दिलाया था तथा बाद में भी।

लेकिन गांधी जी की सबसे बड़ी सफलता थी कि उन्होंने पूरे देश को इसमें संपृक्त किया तथा क्रान्ति की चिनगारी शहरों-गांवों एवं शिक्षितों-अशिक्षितों में समान रूप से फैली।

एक बात और द्रष्टव्य है। अमूमन कोई भी बड़ा कार्यक्रम देश की जलवायु और मौसम को ध्यान में रखते हुए, हमारे यहां बरसात में नहीं बनाया जाता। यह मौसम किसानों का होता है, अतः यह मानकर चला जाता है कि इस समय किसी ऐसे कार्यक्रम की शुरुआत न की जाए, जिससे खेती में फंसे लोग इन कार्यक्रमों में भाग लेने से वंचित रह जाएं। लेकिन गांधी ने, जो अपने को 'खेडूत' (किसान) कहते थे और गांव में ही रहते थे, इस बात को जानते हुए भी सेवाग्राम की कुटिया में बैठकर इसका ताना-बाना बुना।

जुलाई में जब किसान हलों से अपने खेतों की जुताई करके बीज बो रहे थे, गांधी जी ने 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो' का प्रस्ताव कांग्रेस कार्यकारिणी से पारित करवाया।

अगस्त में जब बादल आसमान में छा गए तथा बीजों ने मुंह खोलना शुरू किया, तब कांग्रेस महसमिति ने उस प्रस्ताव पर स्वीकृति की मुहर लगायी और गांधी जी ने 'करो या मरो' का आह्वान किया।

सितम्बर-अक्तूबर-नवम्बर में जब रोपनी-निरौनी-पटवन में किसान मशगूल होता है, क्रान्ति की यह आग सुलगती गयी और भारतीय ग्रामवासियों ने खेती के समान ही इसके लिए भी अपनी जान की बाजी लगा दी। और जब दिसम्बर में फसल काटकर लोग अपने घरों में आने लगे, तो इसके साथ ही अगस्त-क्रान्ति की फसल भी लहलहाकर तैयार हो गयी।

इस प्रकार भारतीय जनजीवन के चक्र के साथ गांधी जी ने इसे संपृक्त किया और यह उनके नेतृत्व की अनुपमता थी।

इस अग्नि में लाखों देशभक्तों ने आहुति दी, नववधुओं ने अपनी

मांगों के सिंदूर धो डाले, अबोध बच्चे भी गोलियों के शिकार हुए। वहीं स्वयं गांधी जी ने भी अपने जीवन की सबसे बड़ी कुरबानी दी—आगा खां पैलेस जेल से ही उन्हें माता कस्तूरबा और महादेव देसाई की चिरविदाई देखनी पड़ी।

इसलिए जरूरी है कि अगस्त-क्रान्ति को समझने के लिए गांधी जी को समझा जाए और गांधी जी को समझने के लिए अगस्त-क्रान्ति को समझा जाए। कारण, दोनों एक-दूसरे से इस संपृक्त हैं कि कोई उन्हें अलग करके देखना चाहे तो वह पूरा सत्य नहीं देख पायेगा।

रोम्यां रोलां और लुई फिशर के गांधी

गांधी जी पर आज भी हर वर्ष विभिन्न भाषाओं में लगभग पचास पुस्तकें निकलती हैं, जिनमें से अधिक संख्या अंग्रेजी में निकलने वाली पुस्तकों की होगी, क्योंकि इस भाषा में जितनी पुस्तकें भारत में निकलती हैं, उतनी ही दुनिया के अन्य हिस्सों में भी। लेकिन जो भी पुस्तकें आए-गए दिनों आ रही हैं, उनमें कितनी तथ्यपरक हैं और कितनी बकवास—इसका जिक्र यहां करना नहीं चाहता। हमारे पास गांधी-साहित्य की सूची है, उसके अनुसार आज से दस साल पहले तक गांधी जी के संबंध में विभिन्न भाषाओं में तीन हजार से अधिक छोटी-बड़ी, मोटी और पतली पुस्तकें निकल चुकी थीं और लगातार निकल रही हैं।

लेकिन मैं जब अभी हाल में गांधी जी पर विशेष कार्य कर रहा था और गांधी जी संबंधी पुस्तकों के अंबार में धंसा, तो एक-एक कर सभी पुस्तकों को उलटता-पुलटता गया, लेकिन मन को संतोष ही न हो। पट्टाभि सीतारमैया से लेकर आचार्य कृपलानी तक और महादेव देसाई से लेकर प्यारेलाल जी तक और राजेन्द्र बाबू से लेकर जवाहरलाल जी तक जितनी भी पुस्तकें मेरे सामने आती गईं, उनमें कहीं न कहीं यह भान होता रहा कि ये सभी गांधी जी के प्रति इतनी भक्ति रखते थे कि उसके आगे गांधीवाद का प्रश्नचिह्न विलोम हो जाता है।

अंग्रेजी में विपुल गांधी-साहित्य है और इसी प्रकार गुजराती और मराठी तथा अन्य दक्षिण भारतीय भाषाओं में गांधी-साहित्य की कमी नहीं है, लेकिन पता नहीं क्यों मुझे न तो संतोष हो पाया और न ही उनके अन्दर झांककर वह खुराक मिली, जिसकी मैं तलाश कर रहा था। और तभी मेरे सामने दो विदेशी लेखकों की पुस्तकें आयीं—'रोम्यां रोलां का भारत' (रोम्यां रोलां) तथा 'गांधी की कहानी' (लुई फिशर)। इन दोनों

पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद भी सुलभ हैं। जब मैं इनके अन्दर गया, तो मात्र मुझे संतोष ही नहीं हुआ, वरन् इस बात से खुशी हुई कि दुनिया में शायद ये दो ऐसे लेखक हैं, जिन्होंने गांधी को भली-भांति समझा था।

'रोम्यां रोलां का भारत' क्रमिक पुस्तक न होकर उनकी डायरी है, जिसका मूल फ्रेंच से श्री सत्यनारायण शर्मा ने हिन्दी में अनुवाद किया है तथा लुई फिशर की विश्व-प्रसिद्ध पुस्तक 'दि लाइफ ऑफ महात्मा गांधी' का प्रामाणिक अनुवाद चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय ने 'गांधी की कहानी' नाम से किया है।

यों गांधी जी की अपनी आत्मकथा से प्रामाणिक कौन-सी वस्तु हो सकती है, लेकिन गांधी जी को विस्तारपूर्वक और संतोषपूर्वक देखने के लिए इन दोनों लेखकों का सहारा लेना आवश्यक होगा।

'गांधी की कहानी' के हिन्दी संस्करण हेतु लुई फिशर ने विशेष रूप से 'दो शब्द' लिखे हैं, जिसमें उन्होंने हिन्दी में ही हस्ताक्षर भी किया है। लिखा है—'दूसरे देशों की अकसर यात्रा करते हुए मैं जितना अधिक इस दुनिया को देखता हूं, उतना ही मेरा विश्वास गहरा होता जाता है कि अमरीका, यूरोप, एशिया तथा अन्य देशों का मार्गदर्शन, आध्यात्मिक अवलम्बन तथा साहसपूर्ण कार्यों की मिसालों के लिए गांधी की उपस्थिति करता है, बशर्ते कि हम केवल वही करें जो उन्होंने किया था।'

रोम्यां रोलां की पुस्तक के प्रारंभ में 'दो शब्द' लिखा है सुप्रसिद्ध गांधीवादी चिन्तक और लेखक श्री जैनेन्द्र ने—'भारत के लिए रोम्यां रोलां के विशेष परिचय की आवश्यकता नहीं है। वे उन कुछ विरल पाश्चात्य मनीषियों में से हैं जिन्होंने भारत के तत्त्वज्ञान में संभावनाएं देखीं। उसकी अध्यात्म-धारा को अपनी रुचि और प्रकृति के अनुकूल पाया और उसके प्रति हठात् आकर्षण अनुभव किया।

'भारत के इस युग के प्रति वे सतत सजग रहे, जब वह अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रहा था। इस संघर्ष को गांधी का नेतृत्व प्राप्त था और गांधी मानव के समूचे राजनीतिक इतिहास के नेताओं से सर्वथा भिन्न थे, अनोखे थे वे विश्व के अध्यात्म के इतिहास में भी।

'रोलां भारत के प्रति अपनी सहानुभूति के कारण यहां के नाना सत्पुरुषों के प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष परिचय में आए, जिनमें महात्मा गांधी

के अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और श्री अरविंद को विशिष्ट कहा जा सकता है।'

इस तरह से हम यह पाते हैं कि इन दोनों कृतियों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण दोनों व्यक्ति हैं, जिन्होंने गांधी-युग की अनुभूतियों को भली-भांति अपने अन्दर समेटा था। भारत में क्या हो रहा है, दुनिया के अन्य लोग भारत के प्रति क्या सोचते हैं तथा सबके केन्द्र में गांधी कहां हैं।

रोम्यां रोलां तथा लुई फिशर रह-रहकर बस इसी बात की अपेक्षा रखते थे कि कोई आए, उनसे गांधी जी के संबंध मे जानकारी मिले अथवा कहां कौन क्या गांधी जी के बारे में सोच रहा है, गांधी का अगला कदम क्या हो रहा है तथा कोई ऐसी बात न हो, जिससे गांधी जी का नुकसान हो। जिस सजीवता, निष्ठा, ईमानदारी और तटस्थता के साथ दोनों ने गांधी जी को चित्रित किया है वह अपने आप में एक दुर्लभ वस्तु है।

सबसे पहले हम लुई फिशर के सहारे गांधी जी से मिलें। यह विश्व-विख्यात पत्रकार की गांधी जी से पहली मुलाकात है, जिसके लिए वह अमरीका से भारत आए हैं। 'गांधी की कहानी' में 'गांधी जी के साथ एक सप्ताह' के अन्दर आपको ले चलता हूं– नेहरू प्रस्तावित सविनय अवज्ञा-आन्दोलन के बारे में गांधी से परामर्श करने सेवाग्राम जा रहे थे। मैंने उनसे प्रार्थना की कि मेरी मुलाकात की व्यवस्था कर दें। बहुत जल्दी मुझे तार मिला, जिसमें लिखा था– 'स्वागत ! —महादेव देसाई।'

'मैं वर्धा स्टेशन पर गाड़ी से उतरा, जहां मुझे गांधी जी का संदेश-वाहक मिला। रात को मैं कांग्रेस-अतिथि-गृह की छत पर सोया। सुबह मैंने गांधी जी के दंत-चिकित्सक के साथ सेवाग्राम के लिए तांगा किया।

'तांगा गांव के पास रुक गया। वहां गांधी जी खड़े थे। उन्होंने अंग्रेजी लहजे में कहा– 'मिस्टर फिशर !' और हम दोनों ने हाथ मिलाए। वह मुझे एक बेंच के पास ले गए। उन्होंने बेंच पर बैठकर अपनी हथेली उस पर टिका दी और मुझसे कहा– बैठ जाओ। जिस तरह वह पहले बेंच पर बैठे थे और जिस तरह उन्होंने मुझे हाथ से बेंच पर बैठने का इशारा किया, उससे लगा मानो वे कह रहे हों, 'यह मेरा घर है।'

'गांधी जी के साथ मेरी रोज एक घंटा मुलाकात होती थी। भोजन के समय भी बातचीत का मौका मिलता था। इसके अलावा दिन में एक

या दो बार मैं उनके साथ घूमने भी जाता था ।

'गांधी का शरीर सुगठित था, सीने के स्वस्थ पुट्ठे उभरे हुए, पतली कमर और लम्बी पतली मजबूत टांगें, जो चप्पलों से धोती तक नंगी । उनके घुटनों की गांठें निकली हुई थीं और उनकी हड्डियां चौड़ी तथा मजबूत थीं । उनके हाथ बड़े-बड़े और अंगुलियां लम्बी तथा दृढ़ थीं । उनकी चमड़ी कोमल, चिकनी और स्वस्थ थी । वह तिहत्तर वर्ष के थे । उनकी अंगुलियों के नाखून, हाथ-पांव तथा शरीर निर्दोष थे । उनकी धोती, धूप में भी कभी-कभी पहना जाने वाला टोप और सिर पर रखा हुआ गीला अंगोछा सफेद झक थे ।

'उनका शरीर बूढ़ा नहीं मालूम देता था । उनको देखकर यह नहीं लगता था कि वह बूढ़े हैं । उनके बुढ़ापे का पता उनके सिर से लगता था ।'

लुई फिशर के समान तीक्ष्ण सर्वेक्षण बहुत कम दिखाई देगा । आगे वे लिखते हैं– 'आधुनिक इतिहास के नामी व्यक्ति चर्चिल, रूजवेल्ट, लॉयड जार्ज, स्टालिन, हिटलर, वुडरो विल्सन, कैसर, लिंकन, नेपोलियन, मैटरनिच, तालेरां आदि के हाथों में राज्यों की सत्ता थी । लोगों के मानस पर प्रभाव डालने में गांधी जी के मुकाबले का एकमात्र गैरसरकारी व्यक्ति कार्ल मार्क्स समझा जा सकता है । व्यक्तियों की अन्तरात्मा पर गांधी जी के समान जबर्दस्त असर डालने वाले आदमियों की तलाश में हमको सदियों पीछे जाना पड़ेगा । पिछले युग में ऐसे लोग धर्मात्मा हुए हैं ।... गांधी जी ईश्वर या धर्म के बारे में उपदेश नहीं देते थे, वह तो स्वयं जीते-जागते धर्मोपदेश थे । जिस संसार में सत्ता, धन तथा अहंकार के क्षयकारी प्रभाव के सामने टिकने वाले नहीं के बराबर हैं, उसमें गांधी जी एक उत्तम पुरुष थे । बिजली, रेडियो, नल या फोन से वंचित एक छोटे से भारतीय गांव की कुटिया में वह जमीन पर आधे से अधिक नंगे बैठे हुए थे । यह स्थिति श्रद्धान्वित भय, पोपलीला या काल्पनिक गाथा को बढ़ाने में जरा भी सहायक नहीं हो सकती थी । हर दृष्टि से वह धरती के निकट थे । वह जानते थे कि जीवन का अर्थ है जीवन की छोटी-छोटी बातें ।'

इस प्रकार हम निर्विकार रूप से पाते हैं कि लुई फिशर ने अमरीका

या यूरोप में बैठकर या सुनकर अथवा पढ़कर गांधी जी को नहीं समझा था, बल्कि उस महान लेखक-पत्रकार-चिन्तक ने स्वयं आकर गांधी जी के एक-एक रग-रेशे का अध्ययन किया था, तब वह सफल हुआ दुनिया को 'गांधी की कहानी' देने में ।

रोम्यां रोलां तो और भी अद्‌भुत थे । भारत आए बिना, भारत की राई-रत्ती का ज्ञान उस महान अध्येता को था । गांधी जी के प्रति उनके मानस में विचित्र आकर्षण था और इसका पता इस प्रकार चलता है कि जो कोई भी भारतीय उनसे मिलने जाता था वह पहला प्रश्न उससे यही पूछते थे– 'गांधी कैसे हैं ?'

यदि किसी ने गांधी की आलोचना की या बुरा-भला कहा तो यह उनके लिए बर्दाश्त के बाहर होता था और वे उससे ऊंचाई के साथ उलझ जाते थे । उनकी बस एक ही इच्छा थी कि गांधी जी से मुलाकात हो तथा स्थिरतापूर्वक दुनिया के इस महानतम व्यक्ति से राजनीति, अध्यात्म, धर्म, ज्ञान, कर्म, मानवता, ईश्वर, सत्य, पूंजीवाद, कला, श्रम, अहिंसा– हर विषय पर बातचीत हो । और वह अवसर आया 1931 के दिसम्बर महीने में, जब गांधी जी गोलमेज-कांफ्रेंस में भाग लेकर लन्दन से वापस लौटने लगे तो फ्रांस और इटली की ओर मुड़े । इसके लिए रोम्यां रोलां ने बार-बार गांधी जी को आमंत्रित किया और उनकी सचिव मीरा बहन का उन्होंने विशेष संदेश भेजे । गांधी जी जब आने के लिए तैयार हो गए तो रोम्यां रोलां ने अपनी बहन और अपनी एक मित्र प्रिवा को अगवानी हेतु पहले ही भेज दिया और यह भी भार दिया कि वह गांधी जी को देख-सुनकर और समझकर पहले ही यहां आ जाएं और बताएं कि गांधी के संबंध में उनके अनुभव क्या हैं !

इनकी बहन और प्रिवा जब गांधी जी के साथ चार घंटों की यात्रा कर रोलां के पास लौटती हैं और वे उनके अनुभव गांधी जी के बारे में पूछते हैं, तो दोनों के मुंह से एक ही वाक्य निकलता है– 'उन्हें देखकर मुझे सबसे अधिक सुकरात की याद आयी ।... बिना किसी प्रकार के दिखावे के वह ऐसी शक्तिशाली बातें कह जाते हैं, जो दुनिया का स्वरूप बदल सकती हैं ।'

और तब आता है 5 दिसम्बर, 1931 का वह अविस्मरणीय दिन

जब ये दो महान संत– गांधी और रोलां मिलते हैं। रोम्यां रोलां के ही शब्दों में– 'मैं विला लिओनेत की देहरी पर प्रतीक्षा कर रहा हूं। बिजली के बल्बों की कम रोशनी के कारण, हल्के अंधियारे से मैं देख रहा हूं कि सफेद धोती पहने, नंगे पैर, पतली-सी चादर ओढ़े, एक छोटे कद का चश्मे वाला आदमी हंस रहा है। भारतीय ढंग से आदर प्रदर्शित करते हुए वे अपने दोनों हाथ जोड़ते हैं, फिर दाहिनी बांह से मेरा आलिंगन करते हुए, कंधे से वह अपना गाल टिका देते हैं– उनका सिर मेरे गाल को छूने लगता है।... यह है संत दोमिनिक और संत फ्रांसिस का चुम्बन।'

रोम्यां रोलां की डायरी का मूल-फ्रेंच से हिन्दी में अनुवाद किया है श्री सत्यनारायण शर्मा ने, जिन्होंने इस पुस्तक में मात्र वे ही अंश लिये हैं, जो भारत के सम्बन्ध में हैं। कहना नहीं होगा कि इन दो खंडों में आधे से भी अधिक अंश में गांधी जी ही छाए हुए हैं। विभिन्न रूपों में, भिन्न-भिन्न स्रोतों से रोलां ने गांधी को समझने और पकड़ने की कोशिश की है। विशेष तौर से 1931 में गांधी जी और रोलां का एक सप्ताह का मिलन और विभिन्न विषयों पर खुली बातचीत तथा उनके एक-एक शब्द का अपनी डायरी में रोलां द्वारा अंकन भारत के लिए तथा इतिहास के लिए एक अमूल्य निधि है।

'पहली नजर में कमजोर दिखने वाले गांधी मजबूत आदमी हैं। उनके लम्बे और पतले हाथ– जो उनके कपड़ों की बांहों के नीचे लटक रहे हैं– केवल हड्डी, नसों और मांसपेशियों से बने हैं। ऐसे शांत, तेजवान और सदैव अपने पर नियंत्रण रखने वाले व्यक्ति की चंचलता का पता मुझे उसकी निरन्तर बनी रहने वाली सक्रियता से लगता है।'... यह संतुलित विचार गांधी जी को देखने के बाद और लम्बी चर्चा के बाद श्री रोम्यां रोलां ने निकाला।

सही अर्थों में आज भी मुझे ऐसा लगता है कि गांधी को समझने के लिए जिस व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता थी और जिस तटस्थ रूप से उसका निरूपण लुई फिशर और रोम्यां रोलां ने किया है, वह दुर्लभ है तथा उनके बीच से गुजरने पर सहसा विश्वास हो जाता है कि इन दोनों विदेशी विद्वानों ने गांधी जी को जितना समझा था, उतना शायद किसी अन्य समसामयिक लेखक, पत्रकार या चिन्तक ने नहीं।

गांधी : यादों की एक नयी परिधि

इस बार गांधी की याद बिलकुल एक नये संदर्भ में आ रही है। राष्ट्रपिता बापू, सत्य-अहिंसा-करुणा के देवता बापू, देश की आजादी के प्रणेता बापू, हमारे आधुनिक इतिहास के सबसे सशक्त चरित-नायक बापू, साबरमती और सेवाग्राम के संत बापू, चम्पारण तथा आगा खां जेल के सत्याग्रही बापू, भारतीय जीवन के ज्योति-पुरुष बापू–सर एटेनबरो के 'गांधी' के रूप में बरबस हमारे सामने खड़े हो जाते हैं।

दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह से लेकर गोलमेज कांफ्रेंस तक और दांडी-यात्रा से लेकर 'करो या मरो' तक की अनुगूंज 'गांधी' में है तथा आज की पीढ़ी और पूरी दुनिया इस फिल्म के सहारे एक नये सन्दर्भ में इस युग-पुरुष को देखने का प्रयास कर रही है।

मेरे बेटे ने ग्यारह बार यह तसवीर देखी और बारहवीं बार भी मौका मिलते ही वह देख आयेगा।

नयी पीढ़ी, जो गांधी को साक्षात् नहीं देख सकी थी और जिसने आइन्स्टीन का यह वाक्य पढ़ा था कि आने वाले पीढ़ी मुश्किल से यह विश्वास कर पायेगी कि हमारे बीच हाड़-मांस का सच में कोई ऐसा व्यक्ति पैदा हुआ था–आज किंसले के रूप में गांधी को पाकर पुराने चित्रों से उसका मिलान करती है।

और कहीं जो किंसले उसी बिस्टी में, कमर में घड़ी लटकाये और चश्मे के अन्दर से बेधती आंखों को लिये भारत के किसी नगर की सड़क पर दीख जायें तो लाखों की भीड़ उन्हें घेर लेगी और पुरानी पीढ़ी जिसने गांधी को देखा—था, चौंक जायेगी–अरे, यह क्या ? गांधी जी···

विचित्र संयोग है कि अपनी मृत्यु के 36 वर्षों बाद गांधीवाद या विवाद के परे एक तसवीर के रूप में हमारे सामने खड़े हैं और देखने

वालों ने बार-बार यही कहा है कि पटेल-नेहरू-जिन्ना-महादेव देसाई आदि भले ही कुछ अनजाने या कृत्रिम लगें, लेकिन गांधी और कस्तूरबा हू-ब-हू वही हैं, जो थे । आश्चर्य है कि गांधी और कस्तूरबा जो सबसे कठिन थे, वे सबसे स्वाभाविक उतरे और अन्य सबों में मुश्किल पैदा हो रही है कि ये कैसे, क्या हैं ?

जिस दिन पहली बार श्रेष्ठ अतिथियों के सामने दिल्ली में 'गांधी' दिखलाई गई, उस दिन गांधी जी की पौत्री और भूतपूर्व संसद सदस्या श्रीमती सुमित्रा कुलकर्णी उसे देखकर आयीं तो मैंने पूछा–'सबसे बड़ा निर्णय तो आप ही दे सकती हैं, कैसी लगी तसवीर ?'

मेरे सीधे-सपाटे प्रश्न ने किंचित क्षणों के लिए उन्हें रोका और तब संभलकर बोलीं–'जिस पीढ़ी ने बापू को नहीं देखा उसके लिए बहुत बड़ी चीज़ है ।'

अभी हाल में यूरोप के आठ-दस देशों की यात्रा से डॉ० कर्णसिंह वापस आये तो आप से आप मुझ से बोले–'शंकर, क्या बताऊं ! जहां कहीं भी गया, सामान्य से सामान्य लोगों ने भी 'गांधी' फिल्म की चर्चा की । मैं तो हैरान था । लिफ्टमैन, टैक्सी ड्राइवर, दुकानदार, प्रोफेसर–हर तबके के लोगों ने मुझसे कहा कि मैंने 'गांधी' फिल्म देखी है । और पूछा कि क्या सच में गांधी ऐसे ही थे ।'

कुछ दिनों पहले जापान जाने का मुझे मौका मिला तो एक पुलिसमैन और दूसरे एक फल-विक्रेता ने मुझे भारतीय देखकर फौरन कहा–'यहां मैंने 'गांधी' फिल्म देखी है ।'

हमारी एक परिचिता नूर फातिमा ने 'गांधी' में पांच मिनटों का बहुत प्रभावोत्पादक और स्वाभाविक पार्ट किया है । गांधी जी नदी किनारे खड़े हैं, वहां वह देखते हैं कि एक महिला अपने छोटे बच्चे को गोद में लिये जिस साड़ी को पहने हुए है, उसके आधे हिस्से को धोकर सुखा रही है। अर्धनग्न स्थिति में वह महिला भारत की गरीबी और बेचारगी को प्रतीकित करती है । उसके पास मात्र वही एक वस्त्र है, जिसे शरीर पर धारण किये हुए है । गांधी जी इस लाज और गरीबी की सम्मिलित तसवीर देखकर सिहर उठते हैं और वह अपनी चादर धार में छोड़ देते हैं, जो बहती हुई उस महिला तक पहुंचती है और वह झपटकर उसे उठा लेती है।

साधारण-सी स्थिति का यह असाधारण अंकन दर्शकों को झकझोर-कर रख देता है ।

नूर फातिमा उस अंकन के बाद जब कभी मुझे मिली हैं, मैंने उनके चेहरे पर 'गांधी' का एक अबोध बोध देखा है ।

शायद यह सोचना या कहना समीचीन अथवा यथार्थ होगा कि गांधीवाद से परे और आश्वासनों-संभाषणों तथा वोटों से दूर 'गांधी' हाड़-मांस का एक ऐसा पुतला है, जिसकी सृष्टि अनायास और अयाचित होती है । वाल्मीकि ने अपने राम को मानव के रूप में उपस्थित किया था, लेकिन तुलसी के भक्त-हृदय को यह गवारा नहीं था, अतः उन्होंने राम को सीधा भगवान का रूप दिया ।

प्रश्न यथावत है—एटेनबरो के गांधी क्या हैं ?

मेरे एक मित्र संजय पुगलिया ने बम्बई से लिखा--गांधी और गांधीवाद के प्रति आपके मंथन को जानता हूं । मेरा एक निवेदन है—जिस दिन आप 'गांधी' फिल्म देखें उस दिन हॉल से वापस आते ही अपने विचारों को लिपिबद्ध कर दें । जरूर - जरूर ।

और मैं अब अपनी बात बताऊं—'गांधी' देखते समय कई बार चिहुंक उठा । रह-रहकर भूल जाता था कि फिल्म देख रहा हूं । लगा, मानो इतिहास मेरे सामने खड़ा है और वह आज हम सबों पर थूक रहा है।

प्रेमचन्द के 'गोदान' का दृश्य है—हीरो अपनी लड़की रूपा की शादी करने में अक्षम हो जाता है । गरीबी की मार से उस भले किसान की रीढ़ टूट जाती है । बैल-गाय मर गये हैं । जमीन नीलाम हो गई है । कर्ज का भार ऐसा कि सूद का भी चुकता नहीं कर पाता । घर में जवान बेटी बैठी है । पत्नी धनिया सतत बीमार और चिड़चिड़ी ।

ऐसे में वह एक पाप कर बैठता है । पंडित दातादीन की चिकनी-चुपड़ी बातों में फंस जाता है और अपनी बेटी रूपा का सौदा कर बैठता है— अनजाने में । और जब पैसा लेकर गांव में प्रवेश करता है तो उसे ऐसा लगता है मानो पूरा गांव घूर-घूरकर उसे ही देख रहा है और हर आदमी उसके मुंह पर थूक रहा है कि यह तुमने क्या किया ?

प्रेमचन्द का आदर्श यहां हवा हो जाता है और यथार्थ पूरे परिवेश पर हावी । पाठक अपने आपको उस जलील और कमीने अध्याय का

एक घिनौना अंग मान लेता है ।

संभव है कि 'गांधी' फिल्म के अंश मात्र दर्शक भी उसी सिहरन के बीच से गुजरे हों, जिसका उल्लेख होरी के रूप में मैंने किया ।

कैसी नियति है नये संदर्भ में गांधी का उल्लेख पूरी दुनिया में एक चलचित्र के सहारे हो रहा है । लेकिन गांधी को मैं जब भी समझने की कोशिश करता हूं तो उनके ही द्वारा व्यक्त शब्दों के आधार पर–'मेरी कल्पना का स्वराज्य तभी आयेगा जब हमारे मन में यह बात अच्छी तरह जम जाय कि हमें अपना स्वराज्य सत्य और अहिंसा के शुद्ध साधनों द्वारा ही हासिल करना है, उन्हीं के द्वारा हमें उसका संचालन करना है और उन्हीं के द्वारा हमें उसे कायम रखना है । सच्ची लोकसत्ता या जनता का स्वराज्य कभी भी असत्यमय और हिंसक साधनों से नहीं आ सकता । कारण स्पष्ट और सीधा है । यदि असत्यमय और हिंसक उपायों का प्रयोग किया गया, तो उसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि सारा विरोध या तो विरोधियों को दबाकर या उनका नाश करके खतम कर दिया जाएगा । ऐसी स्थिति में वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं हो सकती । वैयक्तिक स्वतन्त्रता को प्रकट होने का पूरा अवकाश केवल विशुद्ध अहिंसा पर आधारित शासन में ही मिल सकता है ।

('हरिजन', 27.5.39)

गांधी मेरे लिए सदा से एक संचित पूंजी रहे हैं, जिनके लिए मैंने कभी कोई मोहताजी नहीं की ।

साबरमती आश्रम : एक धरोहर

महापुरुष जहां अपने चरण रखते हैं, वह धरती पवित्र हो जाती है; जहां ठहर जाते हैं, वह मंदिर हो जाता है; जो बोल देते हैं, वह सूत्र बन जाता है और जब चल पड़ते हैं तो वह कीर्ति-यात्रा हो जाती है। इस उक्ति के साथ ही हम विश्ववन्द्य महात्मा गांधी को देखें तो यह अक्षरक्षः सत्य प्रतीत होगा।

बापू जहां ठहरे वह धरा पवित्र हो गई, जो उन्होंने कहा वह मंत्र-वाक्य हो गया और जहां चले वह ऐतिहासिक यात्रा हो गई। उनके इन्हीं कीर्ति-मंदिरों में सबसे उल्लेखनीय हैं--साबरमती आश्रम, अहमदाबाद तथा सेवाग्राम आश्रम, वर्धा। बिहार में भी जब बापू ने चम्पारण-सत्याग्रह की शुरुआत की तो भितिहरवा, हजारीमल की धर्मशाला आदि कई ऐसे स्थल हैं, जो उनकी याद में आज भी मंदिर की पवित्रता रखते हैं और ऐतिहासिक स्थल बन गए हैं।

यहां हम विशेष तौर से गांधीवाद के एक ऐसे ही मंदिर साबरमती आश्रम पर विचार करेंगे।

न जाने आकाशवाणी से तथा यों भी कितनी बार हमने एक स्वर सुना होगा–

'दे दी हमें आजादी बिना खड्ग बिना ढाल।
साबरमती के संत तूने कर दिया कमाल ॥'

आज वही साबरमती हमारे सामने है, जिसकी चर्चा करते समय वह संत भी अपनी लकुटिया लिये हमारी ओर निहार रहा है।

गांधी जी बार-बार कहा करते थे कि सफर करते-करते जब श्रद्धा का संबल खत्म हो जाता है, तब मैं नयी प्रेरणा ग्रहण करने के लिए आश्रम-वास करता हूं।

उसी सिद्धांत के अनुसार अथवा नगरों की चकाचौंध को तथा समृद्धि-पूर्ण जीवन को शिक्षा देने हेतु बापू ने आश्रमों की स्थापना की, जिसका ज्वलंत उदाहरण बना अहमदाबाद में साबरमती नदी के किनारे स्थापित 'साबरमती आश्रम', जिसे 'सत्याग्रह आश्रम' भी कहा गया। इसकी स्थापना 25 मई, 1915 में हुई। यह अहमदाबाद के सुप्रसिद्ध सामाजिक व्यक्तित्व श्री जीवनलाल बैरिस्टर का मकान था कौचरब नामक स्थान में जो उन दिनों अहमदाबाद के बाहर था। आज तो यह स्थल अहमदाबाद के केन्द्र में आ गया है।

सन् 1915 में साबरमती आश्रम की स्थापना के पहले गांधी जी ने आश्रम के संबंध में विस्तार से अपनी मान्यताएं लिखकर एक गश्ती चिट्ठी देश के कई बुद्धिजीवियों और मित्रों को भेजीं, जिनमें इसके कई नाम भी सुझाए गए थे। आश्रम को वैदिक, जैन और बौद्ध धर्मों की आचार संहिता के अनुसार एक नियम-संहिता में बांधा गया, जिससे यह मात्र एक ठहराव की जगह न हो, वरन् प्रेरणा-स्रोत बने। इसके पहले भी दक्षिण अफ्रिका में गांधी जी इस तरह के आश्रमों की स्थापना कर चुके थे, जो उनके सत्याग्रह आन्दोलन के केन्द्र-स्थल थे।

साबरमती आश्रम अथवा 'सत्याग्रह आश्रम' के लिए गांधी जी द्वारा जो नियम निर्धारित किया गए, उनकी विस्तृत व्याख्या उन्होंने स्वयं की। आवश्यक माना गया कि जो भी इस आश्रम में रहे, वह सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, श्रम, स्वदेशी, अभय, अस्पृश्यता-निवारण तथा सहिष्णुता को माने। इनके अतिरिक्त प्रतिदिन के कार्यों में प्रार्थना, सम्मिलित रसोईघर, पाखाने की सफाई, खादी का काम, खेती, गौशाला, रात को आने वाले चोरों के लिए पहरा देना, आश्रम में होने वाली शादी-गमी आदि के कार्यों में दिलचस्पी जैसे कार्यों को भी प्रमुखता दी गई।

गांधी जी ने स्वयं इस संबंध में कहा है—'आश्रम का आदर्श गरीबी धारण करना है, भूखों मरते करोड़ों की सेवा करना है। आश्रम में कंकाल के लिए जगह है। यह कहा जा सकता है कि जो नियम की पाबंदी करने को तैयार हैं, वे सभी भरती हो सकते हैं।'

गांधी जी के निर्मल जीवन का दिग्दर्शन जिस भांति उनके विचारों

में होता था, उसी तरह उनके ये आश्रम भी उनके जीवन के ही अंग थे ।

साबरमती आश्रम की जब स्थापना हुई तो कुछ ही दिनों में गांधी जी को ठक्कर बाप्पा का पत्र मिला--'एक गरीब और ईमानदार अन्त्यज कुटुम्ब की इच्छा आपके आश्रम में आकर रहने की है । क्या आप उसे अपने यहां रख सकेंगे ?' गांधी जी ने उन्हें उत्तर दिया कि यदि यह कुटुम्ब आश्रम के नियमों का पालन करने के लिए तैयार हो जाए, तो उसे हम लेने को तैयार हैं ।

इसके बाद ही दूधाभाई, उनकी पत्नी दानी बहन तथा बच्ची लक्ष्मी आश्रम में आकर रहने लगे । इस हरिजन परिवार के आश्रम में आकर रहते ही एक तूफान-सा खड़ा हो गया । स्वयं बा को इस संबंध में आपत्ति थी तथा आश्रम-परिवार के भी कई लोग नाक-भौं सिकोड़ने लगे । लेकिन बापू ने सबों का मानस शुद्ध किया और उन्होंने आश्रम के नियमों में उल्लिखित छुआछूत के भाव को वहीं से दूर किया ।

1915-16 का जमाना आज का नहीं था । उन दिनों हरिजनों को लोग एक कुएं से पानी भी नहीं भरने देते थे । गुजरात में तो भयानक छुआछूत की बीमारी थी, जिसके ऊपर गांधी जी ने अपने आश्रम के द्वारा ही प्रहार किया । भारत में आश्रमों की परम्परा वैदिक युग से ही रही है । अतः ये आश्रम सार्थक समाज-रचना के भी गठन और मार्गदर्शन के बिम्ब-प्रतिबिम्ब थे ।

गांधी जी स्वयं यह कहा करते थे कि आश्रम का अर्थ सामुदायिक धार्मिक जीवन है । उन्होंने इसे प्रतिपादित भी किया ।

किसी भी आश्रम की जीवन्तता उसके कार्यों में है । गांधी जी ने भारत में अपने कार्यों की शुरुआत इसी साबरमती आश्रम से की और उसके बाद जब वे 1917 में चम्पारण-सत्याग्रह-हेतु मनसा-वाचा-कर्मणा गये, तो वहां से उनकी जीवन-पद्धति में बदलाव आया ।

गांधी जी ने जब 1934 में सेवाग्राम आश्रम की स्थापना की और वहां रहने लगे, तब एक तरह से साबरमती उजाड़ हो गया । किसी भी आश्रम की आत्मा उसके प्रेरणा-पुरुष में होती है । गांधी जी भारतीय इतिहास के ही नहीं, समाज के भी प्रेरणा-पुरुष थे । उन्होंने जिन आश्रमों

की स्थापना की, वे इस समय हमारी धरोहर हैं। इन्हें देखकर हम गौरवान्वित होते हैं तथा उस युगपुरुष को स्मरण कर सिर झुकाते हैं, जिसने अपने आपको भारतीय जन से एकाकार करने के लिए ऐसे आश्रमों में केन्द्रित किया, जहां न तो सड़क थी और न बिजली। और जब साबरमती आश्रम में सड़क तथा बिजली की व्यवस्था हो गयी और इसके आसपास शहर घिर आया, तब बापू यहां से सेवाग्राम चले गये। लेकिन इस भूमि के चप्पे-चप्पे पर उस महामानव की आत्मा आज भी विचरती रहती है।

अहमदाबाद जानेवाला कोई भी यात्री आज सबसे पहले साबरमती आश्रम को नमन करने जाता है। वहां अब रात्रि में भारत सरकार के सूचना-प्रसारण मंत्रालय द्वारा 'ध्वनि-चित्रों' को दिखाने की भी व्यवस्था है।

गांधी जी के साबरमती आश्रम के नियमों में इतनी सख्ती थी कि हर किसी को उसका पालन करना पड़ता था और जो इसका उल्लंघन करते थे, उनमें से कई भाइयों को उसे छोड़कर जाना पड़ा। इसमें प्रार्थना का विशेष महत्त्व था, क्योंकि वही तो मानस-शुद्धि का सबसे बड़ा मार्ग है। बापू का कहना था—'अगर सत्य का आग्रह आश्रम की जड़ में ही है, तो प्रार्थना उस जड़ का मुख्य आधार है। जब से आश्रम स्थापित हुआ, तभी से रोज प्रार्थना से ही आश्रम का काम शुरू हुआ है और प्रार्थना से ही खत्म हुआ है।'

गांधी जी के बाद गांधी-शिष्यों में विनोबा का नाम प्रमुख है, जिन्होंने पवनार-आश्रम की स्थापना द्वारा आश्रम-जीवन के लक्ष्य को आगे बढ़ाया। दरअसल साबरमती जैसे आश्रमों के द्वारा गांधी जी की मंशा यह थी कि लोगों को सही भारत की पहचान मिले, लोग स्वावलम्बी हों तथा सेवा-धर्म को पहचानें। भारत की आत्मा गांवों में निवास करती है और उसका केन्द्र-बिन्दु कहीं तो हो जिसका प्रतीक है आज भी साबरमती आश्रम, जो सही अर्थ में आज गांधीवाद का एक जीवित मंदिर है।

सेवाग्राम : बा और बापू का गांव

मैंने स्वयं ही कहा--इसी कुटिया में ठहरूंगा ।

अमूमन यहां आने वाला 'यात्री निवास' को अधिक पसन्द करता है । आधुनिक परिवेश, अच्छे बने कमरे, थोड़ी बहुत सजावट, फूल-पत्ते भी और स्तूपाकार डिजाइन ।

लेकिन मैंने 'गांधी कुटी' की बगल में 'रुस्तम भवन', जो मेहमानों के लिए विशेष रूप से गांधी जी के समय में ही बना था, उसी में ठहरना पसन्द किया । चार कमरों का यह अतिथि-गृह 1938 में बना था । बापू के पास यहां आने-जानेवालों का रेला लगा रहता था । उनके ठहरने की व्यवस्था कोई खास नहीं । कभी वे बापू की कुटिया के बरामदे में सो गए, कभी कोई महादेव भाई के साथ, महिलाएं बा की कुटी में, गरमी के दिनों में पेड़ के नीचे ।

यही व्यवस्था चल रही थी कि एक दिन महात्मा गांधी के दक्षिण अफ्रिका के एक धनिक मित्र के पुत्र जालभाई रुस्तम जी गांधी से मिलने आए और उन्होंने अपने पिता रुस्तम जी की यादगार में एक अतिथि-भवन बनाने की अनुमति मांगी । अन्त में बापू ने उन्हें इसकी आज्ञा दे दी, तब 1942 में 'रुस्तम-भवन', जिसके लिए वहां 'रुस्तम-मेहमानघर' की तख्ती लगी है, बनकर तैयार हुआ ।

यों यहां बड़ी-छोटी मिलाकर लगभग दस कुटियों का संसार देखने को मिलेगा । बापू की आदि-कुटी, बा-कुटी, आखिरी-निवास, महादेव-कुटी, कार्यकर्ता-निवास, रसोड़ा, परचुरे कुटी और बापू जी की दफ्तर-कुटी । लेकिन वर्तमान 'सेवाग्राम' के आसपास वर्धा तक कम-से-कम बीस-पचीस ऐसी संस्थाएं देखने को मिलेंगी, जिनका निर्माण बापू ने विभिन्न कार्यों के लिए किया था, जिनमें ग्रामोद्योग, गौशाला, महिलाश्रम, सेवा-

संघ, खादी अन्वेषण संस्थान, मगन संग्रहालय, मातृ सेवा संघ, आयुर्वेद चिकित्सा केन्द्र तथा कस्तूरबा अस्पताल प्रमुख हैं। वर्धा में राष्ट्रभाषा प्रचार तथा सेवाग्राम आश्रम की बगल में ही नयी तालीम केन्द्र भी है। ये सारी चीज़ें मिल-मिलाकर गांधी को प्रतिभासित करती हैं कि वे क्या थे और उनकी दृष्टि जीवन और जगत् के हर छोटे-बड़े कार्यों पर समान थी।

आज मैं एक अयाचित मेहमान के रूप में सेवाग्राम आश्रम में पहुंच गया हूं। बापू यहां 1936 में आये थे और यहां की उनकी अन्तिम यात्रा 1945 में हुई थी। सही अर्थ में यह आश्रम क्या है--स्वतन्त्र भारत का सबसे बड़ा तीर्थ है, जहां पेड़ों के नीचे, मिट्टी तथा बांस की इन झोंपड़ियों में आधुनिक भारत का इतिहास गढ़ा गया और इस धरती को उस काल के देशी-विदेशी सैकड़ों नेताओं ने यहां रहकर यादगार बना दिया।

इस परिसर में आकर ऐसा लगता है मानो भारतीय संस्कृति, आम भारतीय की संघर्षपूर्ण जिन्दगी, उनका अर्थतन्त्र, ज्ञान, वृत्ति--सबों का अद्भुत सम्मिश्रण इस भूमि में हुआ है।

आज से साठ या सत्तर वर्ष पूर्व गांधी जी ने यह समझ लिया था कि भारतीय बौद्धिक समाज यदि एक बार शहरी चाकचिक्य में फंसा, तो वह निकलने वाला नहीं है। उसे गांवों की ओर मोड़ने और वास्तविक भारत से जोड़ने के लिए ही उन्होंने सेवाग्राम की स्थापना की।

मिट्टी की दीवारें, बांसों के परदे, खपरैल, छप्पर, जमीन पर बिछी चटाई, छोटी-छोटी खिड़कियां, फूल-पत्ते कढ़े देहातीनुमा भित्तिचित्र नीम-पीपल और अशोक-कदम्ब के वृक्ष--सबों के योगदान से निर्मित यह आश्रम प्रेरणा और चुनौती दोनों है।

गांधी जी जब यहां आये तब न तो यहां बिजली थी, न सड़क, न फोन और न आने-जाने का कोई साधन। और ऐसे में ही दुनिया का सबसे बड़ा आदमी रहता था—यह बिना इन कुटियों को देखे कोई विश्वास नहीं कर सकेगा। जैसे सूर्य के चारों ओर एक प्रभामंडल बन जाता है, वैसे ही बापू के इर्द-गिर्द यहां एक प्रभामंडल कायम हो गया। कहीं महादेव भाई देसाई, कहीं जे० सी० कुमारप्पा, कहीं ऋषि विनोबा, कहीं परचुरे महाराज, कहीं मीरा बेन, कहीं राजकुमारी अमृतकौर, कहीं

किशोरीलाल मश्रुवाला, कहीं अन्नासाहब सहस्रबुद्धे, कहीं ठाकुरदास बंग, तो कहीं ठक्कर बापा ! आज भी इनमें से किसी की बात जब कभी किसी के सामने आती है तो यही लगता है कि मानो गांधीवाद यदि कहीं जीवित था तो उन लोगों में ही, जिन्होंने रचनात्मक जीवन तथा शारीरिक श्रम को प्रमुखता देते हुए व्यवस्था को ही जीवन में सर्वोपरि माना, सत्ता से जिनका कभी कोई दूर का नाता-रिश्ता नहीं बना।

सच में इन कुटियों को देखकर हैरानी होती है। आज मामूली से मामूली एम०एल० ए० या एम० पी० को रहने के लिए पांच लाख से कम का कोई फ्लैट या गृह नहीं बनाया जाता है, वहीं गांधी-परिवार, जिनकी चर्चा मैंने ऊपर की है, वे जिन कुटियों में रहते थे; उनमें से किसी के बनाने की लागत हजार रुपये से अधिक की नहीं होती थी। अपने परिश्रम से स्वयं अपने-आप वे रहने को बना लेते थे, जिनमें मामूली बांसों को खड़ा कर दोनों ओर मिट्टी की लेप दे दी जाती थी और ऊपर मामूली खपरैल !

लेकिन इन कुटियों ने क्या नहीं देखा ?

'भारत छोड़ो आन्दोलन' की पूरी कल्पना यहीं उभरी तथा स्वराज्य के अन्तिम दिनों के सूत्र यहीं पिरोए गए।

मुझे चारों ओर घुमाने वाले भाई शान्ताराम फोकमारे बताते हैं--यहां इस गद्दी पर बापू बैठते थे और इन बिछी चटाइयों पर कहीं नेहरू जी, कहीं राजेन्द्र बाबू, कहीं सरदार पटेल, कहीं मौलाना आजाद, कहीं राजगोपालाचारी, कहीं सरोजिनी नायडू। मतलब यह कि पूरा भारत यहां बैठा होता था तथा देश-विदेश की आंखें सेवाग्राम की ओर लगी रहती थीं।

मेरा मन इस बात से उदास हो जाता है तथा पता नहीं क्यों यह कौंध मन में जागती है कि आजादी के बाद जवाहरलाल जी, राजेन्द्र बाबू, मौलाना आजाद या सरदार पटेल किसी ने भी इन कुटियों को और इन बिछी चटाइयों को याद रखा होता तो शायद आज देश का नक्शा ही कुछ और होता ! भला राजेन्द्र बाबू जैसे सरल-सहज और निरीह गांधीवादी को जब राष्ट्रपति का पद दिया गया तो उनका यह फर्ज़ बनता था कि 350 कमरों के 'राष्ट्रपति-भवन' की जगह किसी कुटिया में रहते या छोटे-

से मकान में, तो आज हमारी आजादी हास्यापद नहीं हुई होती और गरीब यह समझता कि मेरी भी इसमें हिस्सेदारी है ।

इसी प्रकार इन कुटियों में कोई आज भी आकर देश की योजनाओं को अन्तिम रूप देता, तो सम्भव था कि भारत की आत्मा की झलक उसमें दिखाई देती । लेकिन सब कुछ मानो सपना हो । फिर भी इस जगह आकर ऐसा लगता है मानो यहां गांधी जीवित हैं--इन कुटियों में, प्रार्थना-सभा में, रसोई में, भंडारे में, पेड़ों की छांव में तथा नीचे बिछी चटाइयों पर ।

आज मैं इस परिवेश में खोने की चाह लेकर आया हूं । कई बार पहले भी यहां आया था, लेकिन दुर्भाग्य ऐसा कि आया और भागा । इस बार सोचकर आया हूं कि दो-तीन दिन यहीं रहूंगा और इन कुटियों में झांक-झांककर देखूंगा कि गांधी क्या कर रहे हैं ।

मेरी आंखें 'बापू-कुटी' के दरवाजे पर जाकर ठहर जाती हैं । ध्यान से देखता हूं, यह कौन आया है । पता चलता है कोई विदेशी है । आगे बढ़ता हूं, पहचान लेता हूं, लुई फिशर खड़े हैं, विश्व-प्रसिद्ध पत्रकार-लेखक । क्या कर रहे हैं ? मुआयना । उनके ही शब्दों का सहारा ले रहा हूं--"गांधी जी दरवाजे के पास एक गद्दी पर बैठ गए । उनकी बायीं ओर कस्तूरबा और दायीं ओर नरेन्द्रदेव थे । भोजन करनेवालों की संख्या लगभग तीस थी । स्त्रियां अलग बैठी थीं । मेरे सामने तीन से आठ साल तक के कुछ बच्चे बैठे थे । हरेक के नीचे पतली चटाई थी और सामने पीतल की एक-एक थाली जमीन पर रखी हुई थी । आश्रमवासी स्त्रियां तथा पुरुष नंगे पांव, बिना आवाज किए, थालियों में भोजन परोस रहे थे। गांधी जी की टांगों के पास कुछ बरतन और कटोरे रखे हुए थे। उन्होंने मुझे उबली भाजी से भरा कटोरा दिया, जिसमें मेरे ख़याल से मुझे कटा हुआ पालक और कचूमर के कुछ टुकड़े नजर आए । एक स्त्री ने मेरी थाली में कुछ नमक डाला और दूसरी ने गर्म पानी का एक गिलास और दूध का एक गिलास दिया । इसके बाद वह छिलकेदार उबले हुए आलू और कुछ चपातियां लेकर आयी । गांधी जी ने अपने सामने रखे हुए बरतन में से एक पतली करारी रोटी मुझे दी ।"

इसी प्रकार के अनेक वर्णन आपको हर जगह देखने को मिलेंगे,

जो कोई भी गांधी जी के समय में वहां गया। लेकिन मात्र यही नहीं था वहां। लुई फिशर ने उसी क्रम में लिखा है—"रूस में तुम चौदह वर्ष रहे हो ?" गांधी जी ने सबसे पहले राजनीतिक बात मुझसे यही की, 'स्टालिन के बारे में तुम्हारी क्या राय है ?'

मुझे बड़ी गर्मी महसूस हो रही थी। मेरे हाथ सने हुए थे और बैठने में मेरे टखने और टांगें सुन्न हो गए थे। इसलिए मैंने संक्षिप्त उत्तर दिया—"बहुत काबिल और बहुत क्रूर।"

"क्या हिटलर जैसा क्रूर ?" उन्होंने पूछा।

"उससे कम नहीं।"

कुछ ठहरकर वह मेरी तरफ मुड़े और बोले—"क्या वाइसराय से मिल चुके हो ?"

मैंने बताया कि मिल चुका हूं, परन्तु गांधी जी ने इस विषय को यहीं छोड़ दिया।

मैं देखता हूं कि यहां के चप्पे-चप्पे पर इतिहास के कण बिखरे हैं। यह है बकुल वृक्ष, जिसे कस्तूरबा ने अपने हाथों लगाया था। यह है वह नीम का पेड़, जिसके नीचे बापू की प्रार्थना-सभा होती थी। यह है वह पीपल, जिसके नीचे कांग्रेस की कार्यकारिणी की बैठकें हुई हैं तथा अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये गए हैं।

मैं महादेव भाई की कुटी के पास खड़ा हो जाता हूं। बांसों की फट्टियों से घिरे इस खपरैल छाए मकान में महात्मा गांधी के इस अन्यतम निजी सचिव ने न जाने कितने दस्तावेज तैयार किये होंगे।

लग रहा है मानो वे अन्दर बैठे हैं और लिखे जा रहे हैं--अपनी डायरी, जो सही रूप में गांधी जी की डायरी है। भला ऐसा उदाहरण दूसरा कोई मिलेगा !

अब मैं अपनी ओर मुड़ता हूं। अतिथि-गृह के कमरा संख्या दो में मैं ठहराया गया हूं। मिट्टी की दीवारें ज्यों की त्यों हैं और बांसों के ऊपर खपरैल का रख-रखाव भी साबित-दस्तूर है। दरवाजे, कुंडियां, खिड़कियां, रोशनदान, नीचे की ज़मीन--सब वही की वही, मानो यहां किसी मुलम्मे की जरूरत न हो। नयी विशेषता मात्र इतनी ही जुड़ी है कि यहां बिजली लग गई है। आज से साठ-सत्तर साल पहले के भारत

को यहां आकर कोई भी सही रूप में देख सकता है ।

कितनी शान्ति और सफाई है यहां । मन नमित हो उठता है । लगता है कि यहां कोई आए और किसी भी कमरे में झांक ले, तो उसे गांधीवाद की सही व्याख्या जीवित-जागृत रूप में देखने को मिल जाएगी । आश्रम के जो नियम गांधी जी के समय निर्धारित किए गए थे–वे आज भी यथावत हैं । केवल आश्रमवासियों के लिए ही नहीं, वरन् जो कोई मेहमान के समान यहां आकर ठहरेंगे, उनके लिए भी यहां के नियम आवश्यक हैं ।

मैं रुस्तम-मेहमानगृह से निकलकर 'आदि-कुटी' की ओर चल देता हूं । इसका निर्माण शुरू-शुरू में जब गांधी जी आए, 1936 में हुआ था । मात्र एक कमरा–वही शयन-कक्ष, वही ड्राइंग रूम, वही बैठक और वही अतिथि-गृह । औरतें भी आएं तो उसी में ठहरें और मर्द भी वहीं सोएं-बैठें ।

बा को इस पर ऐतराज हुआ । उन्होंने एक दिन बापू से कहा– "औरतों के लिए भवन अलग होना चाहिए ।"

बापू का कहना था—"खर्च ज्यादा बढ़ाने से क्या फायदा ! सब चल ही रहा है ।"

"मानती हूं कि यह ठीक है, लेकिन बहनों की भी लाज-इज्जत है । वे मर्दों के सामने ही स्नान करें, कपड़ा बदलें, यह कौन-सी अच्छी बात है !"

इस तर्क के आगे बापू को झुकना पड़ा और तब तैयार हुई बा-कुटी, जिसमें बाहर से आने वाली बहनें रहने लगीं ।

इस रूप में यहां हर जगह मुझे बापू और बा नजर आ रहे हैं । बापू—कहीं टहलते हुए । कहीं बैठे हुए । कहीं लोगों से बातें करते हुए । कहीं स्नान करते हुए । कहीं तेल-मालिश करवाते हुए । कहीं चरखा कातते हुए । कहीं बकरियों को घास देते हुए । कहीं कुष्ठ-रोगियों की सेवा करते हुए । कहीं साग-सब्जी तोड़ते हुए । कहीं पेड़ों-पौधों को सींचते हुए ।

मेरे बगल के कमरे में एक जापानी युवक ठहरा हुआ है और बड़े मनोयोग से सुबह-शाम प्रार्थना-सभा में भाग ले रहा है तथा कम-से-कम तीन घंटे चरखा कातता है । मेरे मन में बात उठती है—काश, हममें भी गांधी को समझने, उन्हें ग्रहण करने तथा महसूसने की वह तड़प हो

पाती, जो इस जापानी युवक में है, तब हम भटकनों में कैद नहीं होते।

भागते जीवन के अनगिनत क्षणों में मैं इन दिनों को सार्थक मानता हूं, जब मैं गांधी सन्निधि में रहकर अपने सोच के धरातल पर भी आज के युग से अपने को अलग-थलग पा रहा हूं। लगता है कि यहां से जाने के बाद जब लोग-बाग मुझसे पूछेंगे कि कहां थे पिछले हफ्ते आप और मैं जब कहूंगा कि गांधी के आश्रम में--सेवाग्राम में, तो उनमें से अधिकांश मेरी ओर इसी दृष्टि से देखेंगे, जिसमें यह भाव होगा–क्या और कोई काम आपको नहीं रहता है, जो ऐसी-ऐसी जगहों में समय बरबाद करने जाते हैं ?

मैं तब क्या सोचूंगा ? यही न कि इस देश ने अभी गांधी को नहीं समझा है या समझने की कोशिश नहीं की है। सम्भव है कि आगे आनेवाली कोई पीढ़ी 'सेवाग्राम' की ओर मुड़े, तो निश्चित रूप से उसे वहां गांधी खड़े दिखाई देंगे ।

शांत समुद्र : पालों वाली नाव और पोरबंदर

दूत ने रावण को जब आकर बताया था कि राम ने समुद्र बांध लिया, तब वह अपने दसों मुखों से समुद्र के लिए दस शब्द बोल गया—

"बांध्यो वननिधि नीरनिधि,
जलधि सिन्धु वारीस ।
सत्य तोयनिधि कंपति,
उदधि पयोधि नदीस ॥"

और शास्त्रों के अनुसार उसकी मौत भी सामने आ गयी थी । कारण, श्रुतियों के अनुसार जिस दिन रावण दसों मुख से एक साथ बोल देगा, यह प्रत्यक्ष हो जायेगा कि उसकी मौत आ गयी है ।

मृत्युंजयी रावण की मौत का किनारा समुद्र-बन्धन था और मेरे लिए यह विशाल समुद्र जीवन-दिशा का उद्भट दर्शन है ।

गोआ, पुरी, बम्बई, रामेश्वरम्, मद्रास, कोचीन और कोवलम के समुद्र के बाद यह पोरबन्दर का समुद्र । भूगोल का उतना अधिक ज्ञान नहीं है, लेकिन इसे अरब की खाड़ी के समीप होना चाहिए ।

सागर-तट पर बने बंगले में ठहरा हूं । सूरज पूरब दिशा से झांक रहा है । दो-तीन सौ कदमों पर समुद्र की लहरें उठा-पटक कर रही हैं । जहां तक दृष्टि जाती है, जल ही जल । असीम, अनन्त, अगाध समुद्र और उसके बाद बेचारा क्षितिज— जो कहीं कुछ नहीं है । केवल एक भ्रम है, मात्र एक छलावा है, उसके छोर का कोई अन्त है ही नहीं ।

और समुद्र में संतरण करती अनेक पालों वाली नाव । जब कभी सागर किनारे बैठकर दूर से आती या जाती इन पालों वाली नावों को देखता हूं तो पता नहीं कैसा क्या होने लगता है मेरे अन्दर । एक संभ्रम, एक हल्की गुदगुदी, एक सिहरन, एक आश्चर्य, हवा का एक मलयानिल

झोंका, वर्षा की एक हल्की फुहार, शरद की एक ताजी कंपकंपा देने वाली बयार, रस्सी के भ्रम में भुजाओं में लिपटे किसी एक सर्प का गुंजलक, शीरीं-फरहाद की बेतुकी-सी कहानी, 'आकाशदीप' का एक दस्यु-पात्र और 'फ्रेंच मैन क्रिक' के अनेक उद्धरण सामने आते हैं।

आखिर ये पालों वाली नाव हैं क्या, जो इस प्रकार मुझे विचलित कर देती हैं ? कौन हैं इन्हें खेनेवाला ? इन नावों के डांडों से कंधा लगाये यह कौन बैठा है ? ये कहां जा रही हैं ? ये कहां से आ रही हैं ? चकित-संभ्रम-से अनेक सवाल मेरे अन्दर पैदा होते रहते हैं।

उनसे नजर हटाकर आसपास डालता हूं—खंजन पक्षियों के कई जोड़े इधर-उधर फुदक रहे हैं। देहातों में इसे धोबिन चिरैया कहते थे। शरद ऋतु का आगमन और इनका फुदकना एक साथ शुरू होता था। अभी भी याद है पुआल पर बैठकर सूरज की रोशनी में अपने को गरम करते हुए या फिर अलाव में हाथ सेंकते हुए, कभी-कभी चूड़ा-गुड़ फांकते हुए—न जाने अपने बचपन में कितनी बार इन खंजन चिड़ियों को चहकते और फुदकते देखा। पांवों में बिजली-सी स्फूर्ति और चोंचों में हवा के झोंकों के समान थिरकन।

लेकिन आज इस समुद्र के किनारे जहां शांति ही शांति है, सारा का सारा वातावरण मुझे पागल बना दे रहा है। समुद्र में कितना ही कलरव हो, कितनी भी उत्ताल तरंगें हों, कितना भी रौरव-नाद हो—फिर भी एक अभूतपूर्व शांति रहती है जो उसकी विशालता और व्यापकता का प्रतीक है।

इसीलिए रात जिस कमरे में सोया था वहां लहरों का नाद हर मिनट और हर सेकंड सुनायी दे रहा था। फिर भी रात-भर नींद में कोई खलल नहीं पड़ी। जैसे मां अपने बालक को लोरियां गाकर सुलाया करती है, वैसे ही ये लहरें थीं मेरे लिए।

पोरबन्दर देश का एक पवित्रतम भू-भाग है, राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की जन्मभूमि, देश का एक गौरवशाली तीर्थ-स्थल। हर किसी के चेहरे पर शांति। बाजार में और कार-बार में सुव्यवस्था। नगर का हर भाग साफ-सुथरा और सादगी से भरपूर। कई बड़े और छोटे नगर देखे हैं मैंने, लेकिन इस नगर को देखकर जितना प्रभावित हुआ उतना शायद

ही किसी स्थान को देखकर प्रभावित होता हूं। साफ-सुथरी चौड़ी सड़कें, बाजार में भी कहीं गंदगी नहीं, न कहीं खुले नाले और न कहीं कूड़ों का ढेर। समुद्र के किनारे करीने से बनी सीमेंट की सड़कें, बंगलों में भी बिना किसी कसीदाकारी के सादी सजावट। लोगों में व्यवस्थित रहने की आदत। परम्परा-बोध। सभ्यता की पहचान। न तो सूनापन और न बहुत ललक।

रात हुई तो सड़क की बत्तियां नगरपालिका की सक्षमता को प्रदर्शित कर गयीं। नगरपालिका की अपनी बस-सेवा है तथा पूछने पर यह पता चला कि सालभर का बजट करीब-करीब सत्तर लाख रुपयों का होता है। मैं लज्जित भी हुआ और प्रभावित भी। लज्जित इसलिए कि उत्तर भारत में और खासकर बिहार में शहरों में नगरपालिकाओं का एवं पटना में कारपोरेशन का जो हाल देखता हूं तो सिर नीचा हो जाता है। सारा शहर कूड़ाखाना नजर आता है। और एक यह है छोटा-सा नगर पोरबन्दर, जिसकी सफाई-व्यवस्था, मकानों की बनावट और समुद्र का किनारा देखने योग्य है। वर्षों से मेरे मन में यह लालसा थी कि उस स्थान का भ्रमण करूं, जहां की मिट्टी को सौभाग्य प्राप्त है राष्ट्रपिता माहत्मा गांधी को जन्म देने का। इसलिए 'कीर्ति मंदिर' जो गांधी जी के पूर्वजों का मकान है, इसे मैंने उसी निष्ठा से देखा मानो किसी मंदिर का दर्शन कर रहा होऊं। इस भवन के कोने-कोने में स्वाभाविकता और निश्छलता है।

गुजरात के इस हिस्से को सौराष्ट्र कहते हैं और उसके जिला मुख्यालय का नाम है राजकोट, जिसके अन्तर्गत पोरबन्दर पड़ता है। प्राचीन काल में संभवतः इस स्थल को सुदामापुरी कहा जाता था। संभव है कि पास ही द्वारका होने के कारण, सुदामापुरी भी इसके पास ही हो, जिससे कृष्ण और सुदामा की कथा उजागर होती है।

गुजरात में छोटे-छोटे अनेक रजवाड़ों में पोरबंदर के राजा का भी अपना विशेष महत्त्व था और यहीं के दीवान थे करमचंद गांधी, जिनके पुत्र हुए मोहनदास गांधी, जिनके दादा का नाम था उत्तमचंद गांधी। ये बातें पोरबंदर के आमजन भी बता देते हैं और विशेष जानने के लिए अपना इतिहास काफी है।

पोरबंदर के सौन्दर्य को मैंने लुभावने रूप में ग्रहण किया तथा गांधी के साथ ही यहां का चप्पा-चप्पा मुझे याद रहेगा, क्योंकि समुद्र, पालों वाली नाव तथा कीर्ति-मंदिर मेरे लिए वे उन्मादी क्षण हैं, जिन्हें आदमी भभूत के समान ऊपर लपेटकर कृतकृत्य हो सकता है। पता नहीं मेरे शरीर पर पोरबंदर की माटी का कितना भाग कब तक लगा रहता है।

गांधी को भुलाना कठिन : याद रखना मुश्किल

पिछले पंद्रह-बीस दिनों से गांधी न मेरा पीछा छोड़ रहे हैं और न मैं उन्हें छोड़ रहा हूं। सेवाग्राम से लौटा ही था कि मोतिहारी का निमंत्रण आ गया और जब मोतिहारी गया तो वहां के चप्पे-चप्पे में उनकी यादें बिखरी हुई मिलीं। जैसे कोई पेड़ कि इसके नीचे वे खाट पर बैठे थे, जैसे कोई मकान कि इसमें गांधी जी ठहरे थे, कोई विद्यालय कि इसकी नींव बापू ने ही रखी थी, कोई आश्रम कि इसमें लगे पेड़ों को माता कस्तूरबा ने अपने हाथों सींचा था और इसी प्रकार की अनेक जीवन्त बातें, किस्से-कहानियां और उनमें ऊभ-चूभ होता मैं पथिक !

गांधी जी जब 1917 में चम्पारण गये तो उन्होंने निलहों के अत्याचारों से बचने के लिए किसानों और मजदूरों से साक्ष्य लेना प्रारंभ किया और उसके लिए जो टीम बनाई उसमें राजेन्द्र बाबू, आचार्य कृपलानी, अनुग्रहनारायण सिंह, ब्रजकिशोर प्रसाद, शंभूप्रसाद, रामनवमी प्रसाद आदि अनेक लोगों को रखा, जिनमें से कइयों को आज इतिहास नहीं जानता है। जब चम्पारण का काम समाप्त हुआ और गांधी जी की प्रसिद्धि घर-गांव-देहात में ही नहीं, देश के कोने-कोने में फैल गयी और वे कर्मवीर गांधी के नाम से मशहूर हुए; उसी समय राजेन्द्र बाबू ने इस संबंध में एक पुस्तक लिखी–'चम्पारण में महात्मा गांधी', जिसकी कुछ पंक्तियां यहां दे रहा हूं—"सत्याग्रह और असहयोग के सम्बन्ध में जो कुछ महात्मा गांधी ने सन् 1920 से 1922 ई० तक किया, उसका आभास चम्पारण के झगड़े में ही मिल चुका था। दक्षिण अफ्रिका से लौटकर महात्मा गांधी ने महत्त्व का जो पहला काम किया था, वह चम्पारण में ही किया था।"

मोतिहारी, जो चम्पारण जिले का मुख्यालय है, वहां से वापस आते ही गांधी-परिवार की सदस्या और मेरी मुंहबोली बहन श्रीमती सुमित्रा

कुलकर्णी का पत्र मिला—"इन दिनों मैं 'बापू की आत्मकथा : सत्य के प्रयोग' पढ़ रही हूं, तुमने भी पढ़ी होगी, लेकिन चाहूंगी कि एक बार तुम और पढ़ लो तथा परिवार में सबों को पढ़वा भी दो।"

पत्र पढ़ते ही दो महीने पूर्व डॉ० डी० एस० कोठारी द्वारा दिये गये भाषण का अंश सामने आकर खड़ा हो गया--"इस देश में यदि कोई गीता न पढ़े, रामायण न पढ़े, कुरान या बाइबिल न पढ़े तो वह क्षम्य है, लेकिन यदि किसी ने गांधी की जीवनी न पढ़ी हो तो वह अक्षम्य है। मैं तो बराबर 'एक्सपेरिमेन्ट्स विथ ट्रुथ' को अपने साथ रखता हूं और बराबर उसके किसी-न-किसी हिस्से को पढ़ता रहता हूं।" आज के भारत के सबसे बड़े शिक्षाविद् ने गौरव के साथ यह बात कही।

"मां, मैंने गांधी फिल्म ग्यारहवीं बार देखी। कितना अच्छा लगता है दुनिया के उस ऐतिहासिक पुरुष को देखना, जो अपने देश में पैदा हुए थे। मुझे तो गांधी-फिल्म का एक-एक डायलॉग याद हो गया है। पापा ने गांधीजी को देखा था या नहीं?" यह पत्र मेरे लड़के का मां के नाम आया है।

'गांधी' फिल्म में एक दृश्य है कि गांधी जी नदी किनारे खड़े हैं, वहां कुछ ग्रामीण स्त्री-पुरुष स्नान कर रहे हैं। उन्हीं में एक स्त्री अपनी साड़ी के आधे हिस्से को पहने ही आधे को पानी में साफ कर और किसी प्रकार स्नान कर सुखा रही है। दूसरा कोई भी वस्त्र उसके पास नहीं है। भारत की इस चिथड़े-चिथड़े गरीबी को देखकर बापू हिल उठते हैं और वह जहां खड़े हैं वहीं से अपनी चादर उस स्त्री की ओर पानी में बहा देते हैं, जिसे वह लपककर उठा लेती है। बड़ा ही करुण, वास्तविक और मोहक दृश्य है वह, जिसे नूर फातिमा नाम की एक लड़की ने निभाया है। सहसा एक दिन वह पटना की सड़कों पर रिक्शा पर सवार मिल गयी, देखती ही रिक्शा रोककर आयी और कहा—"भाई साहब, सर एटेनबरो का खत आया है। मेरे पार्ट को उन्होंने बहुत-बहुत सराहा है। यह सब आप लोगों की दुआ है।" संतोष की आभा उसके मुंह पर और चमक आंखों में छा जाती है।

कहीं भी गांधी से छुट्टी नहीं है। गांधी न मुझे छोड़ रहे हैं और न मैं उन्हें छोड़ रहा हूं। अवान्तर रूप से भागती जिन्दगी में अनायास

वे कहीं न कहीं, किसी न किसी कोने से टपक पड़ते हैं और मुझे बार-बार यही तो लगता है कि इस देश की मिट्टी का नाम है गांधी, तभी तो वह जड़मूल से इस कदर जम गयी है कि न हटाये हटती है, न भगाये भागती है।

लम्बे-चौड़े-तगड़े चार जवान घोड़े पर सवार दिल्ली की ओर जा रहे थे। रास्ते में एक अदना-सा आदमी गदहे पर सवार होकर उनके साथ हो लिया। चारों घुड़सवारों को लोग-बाग देखें। उत्सुकता स्वाभाविक थी। हर किसी ने जानना चाहा–'आप लोग कहां जा रहे हैं ?'

'हम सब दिल्ली जा रहे हैं !' चारों घुड़सवार मुंह खोलें, उसके पहले ही गदहे पर सवार व्यक्ति बोल पड़े।

कुछ ऐसी ही स्थिति हुई उस समय जब दिल्ली जाती हुई गाड़ी में सवार मैं कुछ भी बात करने को होऊं कि मेरे सहयात्री पहले ही उसे भुनाने को तैयार। इस बार डिब्बे में पंजाब की जगह कश्मीर का मामला ही गर्म था। देश के किसी हिस्से में कुछ हो, उसका मानचित्र भी किसी को पता हो या नहीं, लेकिन उस पर आधिकारिक रूप से हर आदमी अपनी बात कहे बिना मानेगा नहीं। इस देश की नियति यही है। अतः डिब्बे में मुझको छोड़कर हर समझदार यात्री शेख अब्दुल्ला से लेकर फारूख अब्दुल्ला और जी० एम० शाह से लेकर बेगम अब्दुल्ला तक की बात को यों रख रहा था मानो अभी-अभी ये बातें करके कश्मीर से वापस चले आ रहे हों।

"मुझको तो एक सप्ताह से यह पता था कि कश्मीर में सत्ता-परिवर्तन होने वाला है।" एक सज्जन जो बैठे हुए सिगरेट का कश ले रहे थे, उन्होंने इस ताव के साथ कहा मानो वे सीधे कश्मीर से ही चले आ रहे हों।

"देखिये, आपको पूरी जानकारी नहीं है कि क्या-क्या हुआ और क्या-क्या होने वाला है। पहले वहां बात चल रही थी कि फारूख को डिसमिस कर राष्ट्रपति-शासन लागू किया जाये। बाद में विचार बदल गया और सत्ता-परिवर्तन हुआ।" एक दूसरे महाशय इस प्रकार अपने भाव प्रकट कर रहे थे मानो गृहमंत्री अथवा श्री राजीव गांधी ने इनसे ही सलाह-मशविरा करके यह कदम उठाया हो।

"साहब, इस समय यह नहीं होना चाहिए था। पंजाब और कश्मीर, ये सभी सरहद पर पड़ते हैं। वहां के लोगों को नाराज कर नहीं चलना चाहिए।" एक भाई अपने को विवश महसूस कर रहे थे।

अलीगढ़ी कुरते-पाजामे से लैस एक युवा-तुर्क बीच में कूदे–"क्या बकवास आप करते हैं! वहां भारत-विरोधी हवा बह रही थी। लोगों को उकसाया जा रहा था। जितना जल्द यह कदम उठाया गया, उतना ही देश के लिए सुरक्षित है। हम लोगों की आदत ही हो गयी है हर बात में नुक्ता-चीनी निकालना!" अपनी बात का जमता प्रभाव देखकर नौजवान मन-ही-मन प्रसन्न हो रहा था तथा हाल में ही प्राप्त ट्रेनिंग पर खुश हो रहा था कि कहीं कोई पार्टी अथवा सरकार-विरोधी बात चले तो उसे वहीं कुचल दो।

"जनाब, बात तो आप गलत नहीं कर रहे हैं, लेकिन संविधान भी तो कोई चीज़ है। कश्मीर में जो हुआ है, उसमें संविधान को ताक पर रख दिया गया है। फारूख अब्दुल्ला की बात नहीं है, बात है जनतंत्र की। इस तरह से यदि जनतंत्र का गला घोंटा जाता रहा तो देश में प्रजातांत्रिक मूल्य तो हवा हो जायेंगे।" बहुत देर से अपनी बारी आते नहीं देखकर एक बुजुर्ग सज्जन ने, जो कहीं के प्रोफेसर अथवा रिटायर्ड पोलिटिशियन नजर आ रहे थे, दंभ के साथ अपनी बात कही।

मैं अपने आप में उलझा रहा। एक शब्द न तो मैंने मुंह से निकाला और न ही किन्हीं की बात में ही कोई रुचि ली। मेरी आंखों में न तो डॉ० फारूख थे और न ही दिल में कहीं जी० एम० शाह। केवल कश्मीर की प्यारी वादियां और घाटियां थीं, जिनसे कला की खूबसूरती टपकती है। चिनार और सफेदा के दरख्त थे जिनकी शोभा को निहारते रहने को मन करता है। सेब और अंजीर के बाग थे जिनमें मौसम की सुरमई ललाई झांकती होती है। डल और वूलर जैसी झील थीं जिनकी सुषमा को बखानते कवियों को शब्द नहीं मिलते। निशात और शालीमार जैसे बाग थे, जिनमें तितलियों के समान उड़ते रहने का हर सैलानी का मन करता है। शंकराचार्य पर्वत और हजरतबल जैसे पवित्र स्थल थे, जहां अध्यात्म कण-कण में व्याप्त दीखता है। मम्मट और विश्वनाथ जैसे आचार्य थे, जिन्होंने काव्यशास्त्र को गरिमा दी है। केसर और मधु के वे रंग

थे, जिनकी ताजगी आदमी को सुरमई बना दे। माता वैष्णवदेवी और अमरनाथ जैसे श्रद्धा से परिपूर्ण स्थल थे, जिनके दर्शन मात्र से भक्त अपने जीवन की चरितार्थता मानता है।

जिस धरती के बारे में कहा गया है–

'गर फिरदौस बररूए जमींअस्त,
अमीं अस्तो, अमीं अस्तो, अमी अस्त।'

'यदि कहीं संसार में अथवा जमीन पर कोई स्वर्ग है, तो यहीं है, यही है, यही है।' और मैं सोच पड़ता हूं कि भारत की आत्मा जिस धरती पर वास करती है, देवों ने जिस धरती पर अपने पावन-चरण दिये हैं, जिस धरती को नमन करने लाखों लोग देश-विदेश से आज भी आते हैं, कहीं वह जरखेज और धानी धरती कसमसा न जाये और यहां भी और जगहों की तरह कोई भूचाल न आ जाये।

जिस गाड़ी पर सवार हूं उसका नाम 'मगध-एक्सप्रेस' है। यह पटना से दिल्ली और दिल्ली से पटना जाती है। मगध नाम सामने होते ही एक इतिहास आंखों के सामने खड़ा हो जाता है। बिम्बिसार, अजातशत्रु, अशोक, चन्द्रगुप्त और ऐसे ही न जाने कितने राजमुकुट इस धरती पर फहरते रहे और काल-कवलित होते रहे। लेकिन मेरी चेतना केन्द्रित होती है इनमें केवल एक व्यक्ति पर, वह था मगध का सबसे बड़ा सम्राट् अशोक। चण्ड अशोक, जो कालान्तर में बना महाप्रतापी, करुणासागर महाराज अशोक और इस बनने की भी एक कहानी है, जिसे सुनकर भूल पाना असंभव है।

कलिंग-विजय की महत्ता लिये अशोक ने उस धरती को रुधिर से पयोधर बना दिया। न जाने कितने सहस्र योद्धा खेत रहे कलिंग के उस भयानक युद्ध में। अपनी विजय की लिप्सा में मस्त सम्राट् जब शिविर में संध्या बिता रहा था उसी समय एक बौद्ध भिक्षु अपने कंधे पर अपने एकमात्र पुत्र का शव लिये उसके द्वार पर आ खड़ा हुआ– "महाराज का दर्शन चाहता हूं।"

प्रहरियों ने रोका, लेकिन उसके बार-बार आग्रह करने पर जब किसी ने महाराज को जाकर इस भिक्षु के आने की बात बतायी तो विजय-मद में भूले सम्राट् ने भिक्षु को आने की आज्ञा दी। भिक्षु ने अशोक

के सामने अपने पुत्र की लाश उतारकर रख दी और कहा– "महाराज, इसे जिन्दा कर दें।"

"भला मृत भी कहीं जीवित होता है ?" अशोक का रौरव शब्द वातावरण में गूंजा।

"महाराज, आप जिसे जीवित नहीं कर सकते, उसे मारने का आपको क्या हक है ?" भिक्षु का स्वर गिरा के समान अट्टहास कर उठा—जिसे तुम जीवित नहीं कर सकते, उसे तुम्हें मारने का क्या हक है......

और कहते हैं कि इस एक वाक्य ने ही विजयी अशोक को भिक्षु अशोक बना दिया। छत्रपति महाराज अशोक काषाय वस्त्रधारी बौद्ध-भिक्षु हो गया और कहते हैं कि तभी से मगध-साम्राज्य की लिप्सा भी शांत हो गई। उस जमाने में मगध की राजधानी थी--पाटलिपुत्र! और यह गाड़ी उसी पाटलिपुत्र से चलकर हस्तिनापुर की यात्रा पूरी करती है तथा पुनः वापस हो जाती है पाटलिपुत्र !

मैं पाटलिपुत्र और हस्तिनापुर के बीच का एक यात्री, प्रायः सोचा करता हूं—काश, युधिष्ठिर का सत्य और अशोक की करुणा का आज कोई मिलाप कर पाता तो यह धरती सही मानो में स्वर्ग हो जाती।

यहां तो आज हाल यह है कि मन के हर कोने में स्वार्थ का एक ऐसा भयानक कीड़ा वास कर रहा है, जिसे हम नैतिक मूल्यों का चमगादड़ कह सकते हैं। पक्षियों की बारी आये तो भी उसकी पौ-बारह—मैं तो वृक्षों की डालों पर ही रहता हूं और उड़ता हूं तथा पशुओं की जब बारी आये तब भी कोई हर्ज नहीं--मैं तो स्तनपान कराती हूं।

कौन उठायेगा बीड़ा इनसे पार जाने के लिए ?

गांधी या और कोई ?--सोचता हूं मैं।

कहां गई गांधी की कांग्रेस

मैं कांग्रेस संस्कृति से लिपटा ऐसा व्यक्ति अपने को मानता हूं जिसकी रग-रग में कांग्रेस है, लेकिन यह स्पष्ट कर दूं कि मैं कांग्रेस-इ का सदस्य नहीं हूं। मेरे जिस्म में जो कांग्रेस अंगड़ाइयां लेती है, वह गांधी की कांग्रेस थी, जिसके आगे-पीछे गांधी का कहीं नाम नहीं था। वह मात्र कांग्रेस थी और स्वयं गांधी भी उससे परे थे। उन्होंने साफ कह दिया था कि मैं दल का सदस्य नहीं हूं। उसके बावजूद सचाई यह थी कि गांधी के आने के बाद और उनके मरने के बाद तक गांधी ही कांग्रेस थे और कांग्रेस ही गांधी थी।

लेकिन आज जिस कांग्रेस की शताब्दी मनायी जा रही है, क्या यह गांधी की कांग्रेस है? यह सवाल रह-रहकर मेरे सामने होता है।

1916 ई० में पहली बार गांधी जी अखिल भारतीय कांग्रेस के अधिवेशन में लखनऊ पधारे और अपनी तेजस्विता, कर्मठता, सादगी, अनूठी शक्ति तथा विचित्र अनुभूति के साथ चार-पांच वर्षों के अन्दर ही वह कांग्रेस में छा गए। प्रस्तावों और अधिवेशनों की कांग्रेस व्यवहार की कांग्रेस हो गयी और बौद्धिकों के मायाजाल से हटकर वह सीधे जनता के साथ जुड़ गई और 1921 में गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन का सूत्रपात किया, उस समय से लेकर 1947 तक वह गांधी के सहारे चली।

गांधी जी ने कांग्रेस को मात्र राजनीतिक दल का स्वरूप नहीं दिया, वरन राजनीति को धर्म से, धर्म को व्यवहार से, कुटीर उद्योग को चरखे तथा तकली से, तकली को स्वराज्य से, स्वराज्य को हरिजन समस्या से, हरिजन समस्या को सामाजिक जागृति से और सामाजिक जागृति को अहिंसा से जोड़कर एक-दूसरे का पूरक नारा दिया। भाषा की बात चली

तो गांधी हिन्दी पर अडिग रहे। सरलता की बात चली तो गांधी ने सेवाग्राम की कुटिया को आदर्श बनाकर दिखलाया। उनके हर कार्यक्रम में रचनात्मक बोध था और उन बोधों में कार्यक्रम की व्याप्ति थी और सबों के लिए जीता-जागता मंच था, उसका ही नाम कांग्रेस था, जो संस्था से बढ़कर एक बेचैनी थी तथा सत्ता से ऊपर उठकर प्रतीक थी ।

मैंने गांधी को सम्पूर्ण रूप से जान लिया हो, इसका दावा नहीं करता लेकिन गांधी को मैंने पढ़ा है और समझने की चेष्टा करता रहा हूं तथा गांधीवाद के परिवेश में जीवन-यापन की चेष्टा मेरे जीवन का लक्ष्य रहा है, अतः इतना तो कह ही सकता हूं कि गांधीवाद सत्ता न होकर व्यवस्था है और जब तक उसे कोई स्वीकार न कर ले, वह कांग्रेस भले हो जाए, गांधीवाद नहीं हो सकता ।

और इस कसौटी पर आज की कांग्रेस गांधी से कोसों दूर चली गयी है । उसमें व्यवस्था की बू-बास नहीं है, जो भी है वह सत्ता की भूख है और इस हेरा-फेरी में वास्तविक कांग्रेसी या गांधीवादी पीछे छूट गए हैं तथा वे लोग आगे बढ़ गये हैं, जिनके लिए गांधी नाम प्रतीक नहीं, प्रयोजन है ।

गांधी पद से परे एक प्रतिष्ठा थी और यही कारण है जो ब्रिटिशकाल में, जब कि उनके साम्राज्य का सूरज भी नहीं डूबता था, अदना से अदना कांग्रेसी बड़े-बड़े अधिकारी से अधिक सम्मान पाता था । गांधी टोपी, जवाहर बंडी, जयप्रकाश कुर्ता, सरदार पटेल कट चप्पल, नेताजी सुभाष कट चश्मा, राजेन्द्र बाबू की नाईं सरलता देखकर जनता श्रद्धा से सिर झुका देती थी । लेकिन आज, आज का माहौल ही कुछ और है । एक तो इन वस्त्रों का स्थान टेरेलिन, पोलिस्टर, टेरीकॉट आदि ले रहे हैं और कांग्रेस का युवा तबका गांधी, नेहरू, राजेन्द्र बाबू, पटेल, सुभाष, मौलाना आजाद की जगह अमिताभ बच्चन, राजेश खन्ना, अमजद खां, प्रेम चोपड़ा आदि से ज्यादा प्रभावित नजर आता है ।

आखिर ऐसा क्यों ?

बात साफ है । कांग्रेस का युवा तबका यह सोचता है कि गांधी का नाम हमने ज्यादा लिया, तो लोग हममें वही आचरण ढूंढने लगेंगे। अतः न नाम लो और न वह आचरण दिखलाओ ।

तो फिर ऐसा लगता है मानो यह शताब्दी कांग्रेस की जरूर है, लेकिन उस कांग्रेस की नहीं, जिसके प्रतीक गांधी थे ; बल्कि आज जिस कांग्रेस की शताब्दी हो रही है, उसके प्रतीक-पुरुष कोई व्यक्ति न होकर शक्ति या सत्ता है, पद और प्रतिष्ठा है। प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री, अमुक मंत्री आदि इस रूप में सबसे बड़े आदर्श हैं, बनिस्बत कि कांग्रेस के इतिहास के।

और मैं नहीं समझता कि वर्तमान युवा कांग्रेस में 75 प्रतिशत लोग भी कांग्रेस के इतिहास से विज्ञ होंगे। असहयोग आन्दोलन, जलियांवाला बाग, सविनय अवज्ञा आन्दोलन, नमक सत्याग्रह, चौरीचौरा कांड, करो या मरो, अंग्रेजो भारत छोड़ो, जयहिन्द आदि प्रकरणों या नारों से जो ध्वनियां ध्वनित होती हैं और इतिहास करवट लेता है, उसकी जानकारी भी 75 प्रतिशत को होगी या नहीं, इसमें मुझे शक है।

सौ वर्षों के कांग्रेस का काल-विभाजन कठिन है। गांधी के पहले की कांग्रेस, गांधी के समय की कांग्रेस और नेहरू परिवार की कांग्रेस— इन तीन काल-खंडों में कांग्रेस का विभाजन संभव है, लेकिन किसी भी इतिहासकार के लिए ये सीमायें भी खतरों से खाली नहीं हैं। जीवित इतिहास लिखना कठिन होता है और मलबे के नीचे से कुरेदकर अनुमान की शिराओं पर तथ्यों को लपेटना कुछ आसान काम है। कांग्रेस का इतिहास एक जीवित इतिहास है। जो कुछ है वह ऊपर-ही-ऊपर, मलबे के नीचे अभी तक कुछ नहीं है। इन्दिरा जी ने कांग्रेस को दो बार तोड़ा, यह आलोचना का विषय हो सकता है, लेकिन साथ ही यह सच्चाई भी है कि तोड़कर उन्होंने इसे जीवित रखा, जिससे इसका झंडा, इसका नाम, इसकी संस्कृति तथा इससे लिपटे लोग सत्ता के छाते के नीचे सुस्ता सकें। यह काम आश्चर्यचकित करने वाली बात है।

जब भी कांग्रेस की बात उठती है, गांधी याद आते हैं और जब कभी गांधी की तसवीर देखता हूं, कांग्रेस सामने खड़ी हो जाती है। और दोनों के बीच में है देश। अतः सामान्य-सी बात यह है कि गांधी, कांग्रेस, भारत--सभी एक ही पंक्तिबद्ध शीर्षक हैं।

जब तक गांधी जी के हाथ में कांग्रेस की बागडोर थी तब तक कांग्रेस का स्वरूप मात्र राजनीतिक दल का नहीं था। वह सत्ता की कुर्सी

तक पहुंचने की सीढ़ी भी नहीं मानी गयी थी। वह भारतीय जन की आशा, आकांक्षा, भविष्य तथा सुनहले सपनों को साकार करने की एक दिशा-दृष्टि थी।

लेकिन हुआ क्या उसके बाद ? गांधी 1948 की 30 जनवरी को हमारे बीच से गए। ओजादी को आये उस समय तक छः महीने भी पूरे नहीं हुए थे। अतः जैसे गांधी की हत्या हुई, वैसे ही क्रमशः कांग्रेस के मूल उद्देश्यों की भी भ्रूण-हत्या होती रही।

और आज जब यह प्रयास किया जाता है कि कांग्रेस और गांधी को हम जोड़कर देखें, तो सहसा एक आह निकलती है—कहां गयी गांधी की कांग्रेस ?

यह इसलिए कि सत्ता की मीनार से चिपकी कांग्रेस के पास आज सब कुछ है; सिर्फ गांधी को छोड़कर।

गांधी और समाजवाद

मेरी दृष्टि में समाजवाद कोई सिद्धान्त न होकर व्यवहार है और एक ऐसा व्यवहार जो कागजों में कैद होकर क्रिया में परिणत होता है। जब तक जनता उसका फल नहीं चख लेती तब तक भाषणों, लेखों और पुस्तकों में पढ़कर उसे वह समझ नहीं सकती। इसीलिए राजनीति के जिन धुरन्धरों ने समाजवाद की व्याख्या की वे इस बात के लिए भी सजग रहे कि इसकी प्रतिष्ठा हो।

लोकतंत्र के प्रति लोगों में ज्यों-ज्यों आस्था बढ़ती गई, समाजवाद के प्रति रुझान भी बढ़ता गया। इसका स्वरूप क्या हो, इसकी अभिव्यक्तियां कैसी हों, किस सांचे में इसे ढाला जाये--ये कुछ बुनियादी प्रश्न भी लोगों के सामने उठते रहे।

सभी सुखी हों, सभी निर्भय हों—यह शास्त्रों का मूलतन्त्र है, लेकिन यह स्वीकार करना होगा कि आज के युग में सभी सुखी हों, यह कल्पना मात्र है और इस कल्पना को साकार करना ही समाजवाद का अन्तिम लक्ष्य है। भारत में समाजवाद को सैद्धान्तिक धरातल से व्यावहारिक रूप में गांधी जी ने प्रस्तुत करने की चेष्टा की और इसीलिए उनकी राजनीति रचनात्मक और उत्तरदायित्वपूर्ण थी। उनका दृष्टिकोण साफ था, हर नागरिक को इतना भर नसीब हो जाये, जिससे वह सुख से जीवन-यापन कर सके।

एक प्रश्न के उत्तर में महात्मा गांधी ने कहा था—"अगर भारत को स्वाधीनता का ऐसा आदर्श जीवन व्यतीत करना है, जिससे संसार ईर्ष्या करे, तो तमाम भंगियों, डॉक्टरों, वकीलों, शिक्षकों, व्यापारियों और दूसरे लोगों को दिनभर के प्रामाणिक काम की एक-सी मजूरी मिलेगी। संभव है भारतीय समाज को यह ध्येय कभी प्राप्त न हो, परन्तु यदि भारतवर्ष

को सुखी देश बनाना है, प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य है कि वह इस लक्ष्य की ओर बढ़ने का प्रयत्न करे ।"

यहां एक बात द्रष्टव्य है कि गांधी जी ने जब ये बातें कही थीं तो उनका दृष्टिकोण व्यवस्था का था, सत्ता का नहीं । लेकिन उनकी यह चाह थी कि जब भारत में अपना राज हो तो उसमें पारिश्रमिक की व्यवस्था ऐसी बने जो समाजवाद का प्रतीक हो । दुःख है कि वेतनमानों और आमदनियों का जो आज भेद है उसकी रेखा और उसका अन्तर काफी है । जिन देशों में समाजवाद या साम्यवाद शासन का मानदंड मान लिया गया है उनमें इस भेद को मिटाया गया है, परन्तु अभी हम नहीं कर पाये हैं ।

भारत के संविधान में स्पष्ट रूप से प्रारम्भ में ही यह कहा गया है कि हम भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए..... इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं ।

लोकतंत्र की सफलता भी इस बात पर निर्भर है कि हर व्यक्ति को हम जीवन-यापन का समान अवसर प्रदान करते हैं । जितने भी राजनीतिक दल देश में हैं, एकांध को छोड़कर उनकी आस्था संविधान में है और हमारी आजादी भी सही मानी में उसी दिन सफल होगी जिस दिन संविधान में उल्लिखित उद्देश्यों की पूर्ति हम कर लेंगे ।

इस बात को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि देश में विषमता की बहुत बड़ी खाई है । भारत में दुनिया के सबसे बड़े धनी भी हैं और भारत में ही दुनिया के सबसे बड़े गरीब भी हैं । हमारी जनसंख्या का 40 % भाग गरीबी की सीमा के नीचे गुजर-बसर कर रहा है और जब तक उत्पादन और आवश्यकता का मेल-जोल नहीं बैठता, तब तक हमारी गरीबी नहीं मिट सकती ।

समाजवादी समाज-निर्माण की दिशा में हमारी पांचवीं पंचवर्षीय योजना एक बहुत उत्तरदायित्वपूर्ण कदम है । योजना के उद्देश्यों को साफ तौर से प्रस्तुत करते हुए कहा गया है— 'गरीबी का उन्मूलन और आत्म-

निर्भरता प्राप्त करना दो मुख्य उद्देश्य हैं, जिनकी प्राप्ति देश को पांचवीं योजना के दौरान करनी है। अतः यह आवश्यक हो गया है कि अधिक विकास किया जाये, आमदनियों का वितरण ठीक ढंग से हो और आन्तरिक बचत की दर में काफी वृद्धि हो जाये।

अल्पविकास तथा असमानता–हमारी दो बाधाएं हैं, जिनसे हमें जूझना है। विदेशी ऋण से अपने को बचाना तथा आत्मनिर्भर होना--ये दो लक्ष्य हैं। देश संक्रमणकाल की स्थिति से गुजर रहा है। दायित्व-बोध का अभाव है। राष्ट्रीय चरित्र की बेहद कमी है। नेतृत्व में रचनात्मक शक्ति का अभाव है। उधार में लिये सैद्धान्तिक वात्याचक्र हमें चकाचौंध में डाले रहते हैं। लेकिन भारत के लिए आखिरी इलाज गांधीवाद है। जब तक हम अपनी गलतियां न महसूस करेंगे और लौटकर सही रास्ते को नहीं पकड़ेंगे, भटकते ही रह जायेंगे।

गांधी के समाजवाद का आधार क्या था, गरीब भारत के साथ साधारणीकरण और तादात्म्य। इसीलिए गांधी जी ने गरीबी को ओढ़ लिया था, उसे वरण किया था, तभी दरिद्र उनकी दृष्टि में नारायण था। क्या हमने ऐसा किया है ?

गांधी जी ने कहा था–'आर्थिक समानता का सच्चा अर्थ है जगत् के सब मनुष्यों के पास एक समान सम्पत्ति का होना, यानी सबके पास इतनी सम्पत्ति होना, जिससे वे अपनी कुदरती आवश्यकताएं पूरी कर सकें।'

आवश्यकता आज इस बात की है कि हम अपनी भूलों की मजार पर एक सुनहला महल खड़ा कर सकें।

गांधी का समाजवाद खोखला नारा नहीं था और वे स्वयं इसके लिए सावधान थे। इसीलिए बार-बार गांधी जी ने स्वराज्य को रामराज्य के साथ जोड़ा, जहां तक दायित्व-बोध था,

वचन की मर्यादा थी,
त्याग की भावना थी,
कहीं भी उन्होंने समाजवाद का मुलम्मा नहीं चढ़ाया।

गांधी और गांधीवाद

दुनिया की राजनीति में संभवतः महात्मा गांधी ही एक ऐसे अपवाद थे, जो आजादी के कर्ता-धर्ता होकर भी आजादी के बाद भी सत्ता से दूर रहे। भारत के साथ-साथ या उसके पहले या बाद में दुनिया के जिन राष्ट्रों में स्वतन्त्रता की दुंदुभी बजी वहां एक सबसे महत्त्वपूर्ण बात देखने की यह है कि आजादी की लड़ाई का, संघर्ष का या क्रान्ति का जिन्होंने नेतृत्व किया, वे वहां के प्रमुख सत्ताधिकारी बन बैठे और उनमें से अनेक मृत्युपर्यन्त सत्ता के प्रमुख बने रहे।

रूस में लेनिन, तुर्की में मुस्तफा कमाल पाशा, पाकिस्तान के निर्माता मुहम्मद अली जिन्ना, मिस्र में अब्दुल नासिर, चीन में माओ तथा चाऊ एन लाई, बर्मा में जनरल यांग सन्, श्रीलंका में भंडारनायक और बांग्ला देश में बंगबन्धु मुजीबुर्रहमान और ऐसे ही दुनिया के अनेक और भी कई देश होंगे, जहां का उदाहरण हमारे सामने है। यहां महात्मा गांधी औरों से पृथक हो जाते हैं।

15 अगस्त, 1947 को जब देश को आजादी मिली, तो देश की आजादी के कर्णधार और भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के सूत्रधार राष्ट्रपिता दिल्ली की चकाचौंध से दूर बंगाल में साम्प्रदायिकता की आग बुझाने में लगे थे और उन्होंने आजाद हिन्दुस्तान के लिए कोई संदेश नहीं दिया। पत्रकारों ने जब बापू को बहुत तंग किया तब उन्होंने बी० बी० सी० के संवाददाता को यही कहा कि दुनिया को कह दो कि गांधी अंग्रेजी नहीं जानता।

गांधी जी का व्यक्तित्व दुनिया के सभी राजनीतिज्ञों से अलग है। कारण, उन्होंने जहां सत्ता की राजनीति से अपने को पृथक् रखा, वहीं दुनिया का हर राजनेता सत्ता के पीछे पागल बना रहा। गांधी जी व्यवस्था

चाहते थे, इसीलिए उन्होंने राजनीति में नीति को प्रमुखता दी । सत्य, अहिंसा, असहयोग आदि उन्होंने अस्त्र बनाए, जिनके सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियां प्रारंभ में हुई, लेकिन बाद में हर व्यक्ति गांधी-दर्शन का कायल हो गया । रचनात्मक कार्यों पर उन्होंने भरोसा किया और इस क्षेत्र में गांधी जी ने जिन योद्धाओं को आगे किया, वे किसी मानी में किसी राजनीतिक व्यक्ति से कम नहीं थे ।

गांधीवाद सत्ता की राजनीति में सुहागबिन्दी नहीं बन सका, लेकिन गांधी जी का व्यक्तित्व सत्ताधिकारियों के सामने जरूर रहा और उस व्यक्तित्व को सामने रखकर राजनीति के मोहरे एक-दूसरे को मात देते रहे । विशेषणों से परे गांधी जी को भारत की राजनीति में संज्ञा बनाकर व्यवहृत करने की चेष्टा होती रही ।

बीसवीं शती में दुनिया की राजनीति को कार्ल मार्क्स और महात्मा गांधी ने समान रूप से प्रभावित और उद्वेलित किया । इसका मुख्य कारण यह था कि दोनों ने अपने जीवन से एक सौ साल आगे के काल को भी अपने सामने रखा । यही कारण है कि झंझावातों के बावजूद आज या कल न तो मार्क्स मरेंगे और न गांधी की ही मौत होगी ।

भारत की राजनीति में श्री जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु के बाद एक नयी लहर आयी जिसने गांधीवाद को कई खंडों में विभक्त होने के लिए मजबूर किया । कांग्रेस के अतिरिक्त भी कई दलों ने गांधीवाद को अपना आधार बनाया और सत्ताधिकारियों पर यह आरोप लगाया गया कि वे गांधी जी के बताए रास्ते से भटक गए हैं । गांधी और गांधीवाद की न जाने कितनी 'शव परीक्षाएं' की गयीं लेकिन इन सभी पचड़ों के बाद यह अमिट सत्य है कि भारत की जनता आज भी गांधी जी को ही एक-मात्र नायक मानती है । इसका मुख्य कारण सत्ता से दूर व्यवस्था के फ्रेम में मढ़ी गांधी जी की अविस्मरणीय तसवीर है, जिसकी तुलना भारतीय जनता न तो किसी से कर सकती है और न तो संभव ही है ।

राजनीतिक ऊहापोह में 1967 के बाद देश में कई क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए, सत्ता और सत्ताधिकारी को परिवर्तनशील माना गया । लेकिन राज्यों में साझे की गैर-कांग्रेसी सरकारें बनीं, चाहे वे जनसंघ की मदद से बनी हों या मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी की मदद से, यह बात ध्यान

देने की है कि उन राज्यों में जो भी मुख्यमन्त्री बने, चाहे वे नाम मात्र को ही क्यों न हों, उनका व्यक्तित्व गांधीवादी था तथा वे अपनी राजनीति का स्रोत गांधीवाद को मानते थे और उनके जीवन के आदर्श गांधी जी ही थे—बिहार में महामायाप्रसाद सिन्हा, उत्तर प्रदेश में चरणसिंह, बंगाल में अजय मुखर्जी, मध्य प्रदेश में गोविंदनारायण सिंह, तमिलनाडु में अन्ना दुराई आदि । तात्पर्य साफ है, वे दल जिनका विश्वास गांधीवाद में न था, वे भी इस तथ्य को मानकर चलते थे कि भारत की जनता गांधी जी के साये में ही चल सकती है और ऐसा व्यक्ति ही जन-मानस को मान्य हो सकता है, जिसके आचरण में गांधी की मर्यादा हो ।

देश की आजादी और गांधी जी के बिछोह में छः महीने का अन्तर है । लेकिन अन्तरालों की दुनिया में आजादी के बाद अपने निर्वाण के समय तक गांधी जी ने क्या अनुभव किया और किन यंत्रणाओं के शिकार वे हुए, यह भी समझने योग्य है । उन्होंने इन्हीं दिनों यह कहा था कि कांग्रेस को भंग कर अब दूसरी सत्ताधारी संस्था कायम होनी चाहिए । स्पष्ट है कि बापू यह कभी नहीं चाहते थे कि जिस कांग्रेस को जनता ने खून देकर सींचा है, उसमें किसी प्रकार की आंच आए ।

आज भारतीय जनमानस और भारतीय राजनीति कई बातों से प्रभावित है तथा घिरी हुई भी, लेकिन जिस प्रकार फूलों और फलों के लिए विशेष मिट्टी की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मैं यह अनुभव करता हूं कि भारत के लिए गांधीवाद ही वह पौधा है, जिसके सहारे हम भारत की आत्मा को मंहमंह कर सकते हैं । गांधी जी की दृष्टि केवल राजनीतिज्ञ की दृष्टि नहीं थी, बल्कि एक स्रष्टा या समाज-सुधारक की दृष्टि भी थी । और राजनीतिज्ञ जहां केवल अपने काल तक ही सोच पाता है, वहां द्रष्टा अपने से हजार साल आगे की बातें सोचता है और इसीलिए गांधी जी की तुलना आज किसी राजनीतिज्ञ व्यक्तित्व से नहीं करके बुद्ध, सुकरात और ईसा से की जाती है ।

आज देश के कई हिस्सों में हिंसात्मक आग भड़क उठी है, जो दुःख और चिंता की ही बात नहीं है, लज्जा की भी बात है । आशा और अपेक्षा इस बात की है कि गांधीवाद को सर्वसाधारण तक पहुंचाया जाय और भविष्य को सुनहला बनाने के लिए गांधी जी की धुंधली तसवीर

को स्पष्ट किया जाय । इसके लिए आवश्यक है कि विदेशी वादों और प्रभावों से हम अपने आपको बचायें और स्वयं में झांककर देखें । गांधीवाद सही मानी में एक परीक्षा है और सत्ताधिकारियों की जवाबदेही इसमें सबसे अधिक है ।

जहां सरकारें और राजनीतिक पार्टियां फेल रहती हैं, वहां जनता की जवाबदेही बढ़ जाती है । मैं मानता हूं कि गांधीवाद के सन्दर्भ में भारत के आमजन की जवाबदेही आज बढ़ गई है कि वे इसे झुलसने या मरने न दें क्योंकि हमारी अपनी धरती से उगा यह पौधा हमारे लिए समीचीन है ।

गांधी का सपना : पूरा या अधूरा

अकसर देहातों में घूमता रहता हूं तो प्रायः कई तरह के प्रश्न सामने आया करते हैं। अधिकांश प्रश्न अभावों के सूचक होते हैं, जैसे बेरोजगारी की समस्या, राशन की दुकानों में अन्न का अभाव, चीनी के भावों में अंतर की शिकायत, नौकरशाही के चक्कर की चर्चा और घूसखोरी में वृद्धि की शिकायत और मैं हर प्रश्न के उत्तर में किसी-न-किसी प्रकार का समाधान करने की कोशिश करता हूं—कभी हंसकर, कभी मुसकराकर, कभी बातें बनाकर।

लेकिन जब इस बार बरकट्ठा नामक स्थान पर पहुंचा और वहां मुखिया, सरपंच और गांव के अन्य लोगों की एक सभा में लोगों से बातें करने गया, तो एक अधेड़ उम्र के मुखिया ने छूटते ही प्रश्न किया—"गांधी जी का सपना पूरा होगा या नहीं ?"

जब यह प्रश्न मेरे सामने आया तो मेरी हंसी गायब हो गयी, मुसकराहट भाग गयी और मुझे लगा मानो इस प्रश्न का कोई भी जवाब मेरे पास नहीं है। और यह प्रश्न आकर और प्रश्नों के समान चला नहीं गया, बल्कि उस दिन से प्रायः मेरे सामने आकर खड़ा हो जाता है। लगता है शून्य में यह प्रश्न भटक रहा है, लगता है दिशाओं में यह प्रश्न कौंध रहा है, लगता है राजमार्ग पर यह प्रश्न टहल रहा है, लगता है यह प्रश्न हर विचारक-चिन्तक-दार्शनिक और बुद्धिजीवी के मस्तक पर लेप बनकर पुता हुआ है, लगता है मानो यह प्रश्न हर राजनेता के लिए एक चपत के समान है और हर मजलूम, दुखी और पीड़ित बार-बार इसी प्रश्न को दुहरा रहा है।

जनता कहती है—आजादी के इतने सालों बाद भी हमें क्या मिला ? सरकार कहती है—किसी भी देश के इतिहास में पचीस-पचास साल का

काल संक्रमण का काल होता है । मैं सोचता हूं—जापान, जर्मनी, कोरिया, इसरायल आदि देशों में आठ-दस वर्षों में ही यह संक्रमणकाल कैसे विदा हो गया ।

मुझे लगता है मानो पिछले तीस-चालीस वर्षों में इस देश ने और जो भी किया है, लेकिन गांधी को भूलने की बेहद चेष्टा की है । सरकार घबराती है—कहीं गांधी-दर्शन हमें सौम्य और सादा न बना दे । जनता डरती है—गांधी-मार्ग पर चलने का अर्थ है सत्य और अहिंसा के मार्ग पर चलना और उसके लिए हम तैयार नहीं हैं । और राजनेता को भय है—गांधी का स्वप्न उसके ऐश्वर्य और विलासिता में कहीं कमी न ला दे ।

विचित्र स्थिति है । न सरकार, न जनता, न राजनेता— कोई भी गांधी को पूर्णतः अपनाने को तैयार नहीं । मानो गांधी का अर्धनग्न कंकाल शरीर ड्राइंगरूम सजाने का 'ऐब्सट्रैक्ट आर्ट' हो, इससे अधिक कुछ नहीं। मानो गांधी आज अछूत हों—इनसे दूर ही रहो । मानो गांधी संज्ञा न होकर सर्वनाम हों, जिसकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं ।

जनतंत्र की भयानक विडम्बना हमारे सामने है । जिन आदर्शों को सामने रखकर गांधी जी ने चम्पारण में निलहों से टक्कर ली, असहयोग आंदोलन चलाया, सविनय अवज्ञा आंदोलन की नींव डाली, 'करो या मरो' का मंत्र फूंका और 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' का नारा दिया—आज इतिहास के वे सारे के सारे अध्याय अपने आप पर हंस रहे हैं ।

गांधी जी ने कहा था—"सम्पूर्ण संसार का साम्राज्य मिल जाने से भी हमारा क्या लाभ होगा, यदि हमारी आत्मा ही दब गयी ?"

सही मानो में आज की हमारी स्थिति यही है । गांधी-जीवन-पद्धति और गांधी-मार्ग का सार नैतिकता है, जिनका आज अभाव ही नहीं, विलोप हो गया है । नैतिक ह्रास, चारित्रिक गिरावट और वैयक्तिक अवमूल्यन—ये ऐसे कटु सत्य हैं, जो कभी भी हमें उठने नहीं देंगे और जब तक हमें इनका बोध नहीं होगा, हमारा देश कभी भी राष्ट्र की संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकता ।

इस संबंध में गांधी जी के दो वाक्य स्मरणीय हैं—

"भगवान् से मेरी प्रार्थना है, और मैं तो आशा करूंगा कि आप

भी मेरी प्रार्थना में साथ दें—ताकि वे मुझे अपने जीवन-दर्शन के अनुकूल चलने की शक्ति प्रदान करें। आचरण के बिना दर्शन ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार प्राण के बिना शरीर।"

—यंग इंडिया : 14 अप्रैल, 1927

"मैं यह मानता हूं कि मानव-जीवन और मानव-समाज को हम राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन के टुकड़ों में नहीं बांट सकते। सभी एक-दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं।"

—यंग इंडिया : 2 मार्च, 1922

इस प्रकार ऐसा लगता है मानो गांधी-आदर्शों का सर्वथा अभाव होता चला जा रहा है और उसकी जगह पाश्चात्य आदर्श-बोध हम ग्रहण करते जा रहे हैं। सिद्धांत में गांधी हमारे सामने जरूर रहते हैं, लेकिन व्यवहार की शिला पर रखने से हर आदमी कतरा रहा है।

गांधी जी ने जो चिन्तन किया था, उसका आधार उनका अपना था और उस विचार में भारतीयता की सही और असली पद्धति निहित थी। उन्होंने भारत के उस गरीब और अविकसित आदमी के जीवन की कल्पना की थी जिसे न तो खाने को अन्न, न पहनने को कपड़ा और न रहने को मकान नसीब होता है और इसीलिए गांधी जी ने कहा था कि जब भी तुम कोई काम किया करो तो पहले सोच लो कि इससे उस व्यक्ति को क्या लाभ हो रहा है, जो भारत के सुदूर देहातों में बैठा है और जिसे यह भी नहीं मालूम कि सूरज की रोशनी क्या होती है।

किसी भी देश के लिए उसकी मिट्टी के अनुसार अनुभूत सिद्धान्त और विचारधारा ही जनबोधक हो सकते हैं। आज भटकनों में पड़ा देश विश्व की कई विचारधाराओं की ओर ललचाई नजरों से देखता है, परन्तु समस्या का हल भारत के लिए केवल गांधीवाद ही हो सकता है। गांधी जी ने गरीबों को नजदीक से देखा था और इसीलिए उन्होंने गरीबी को ओढ़कर उस जिन्दगी के अन्दर झांककर नजदीक से उसे देखने की कोशिश की थी और उसमें सफल हुए थे। भारत की जनता और गांधी एक-दूसरे के पूरक थे। विश्वासों की उपलब्धि विश्वास है—जो गांधी जी के संबंध में सही और खरी सचाई है। गांधी जी के बाद जनता को कोई उतना बड़ा आधार नहीं मिला, जिस पर वह बिना किसी विचार के भरोसा

और विश्वास कर सके ।

अतः जरूरत है किसी नये गांधी की, जो जनता का आधार बन सके, जनता की गरीबी ओढ़कर उनमें विश्वास की कौंध पैदा कर सके, क्रान्ति को जो सही मानी में किसानों और मजदूरों की परिभाषा में ढाल सके, समाजवाद को सिद्धान्त नहीं, जो व्यवहार बना सके और देश जब अपने आपको देखना चाहे तो एक ही व्यक्ति में अपने को झांककर देख ले ।

रामराज्य का सपना गांधी ने देखा था और उसके साथ ही उनकी आकांक्षा थी स्वराज्य हमारी अंदरूनी ताकत और कठिन से कठिन संघर्षों से सामना करने की हमारी क्षमता पर निर्भर करता है । जिस स्वराज्य की प्राप्ति और उसके संरक्षण के लिए हम निरंतर बलिदान करने को उद्यत नहीं रहेंगे, वह स्वराज्य भी बेकार है ।

गांधी के रामराज्य की कल्पना में तीन बातें निहित थीं–

(क) जिसमें जनता का सर्वांगीण विकास हो,

(ख) जहां शासन अहिंसा और प्रेम पर चलता हो,

(ग) जहां एक वर्ग या देश दूसरे वर्ग या देश का शोषण नहीं करता हो ।

कुछ विचारकों का कहना है कि देश आज गांधी को माने न माने, लेकिन कल का भारत गांधी को मानकर ही लक्ष्य तक पहुंच सकता है। कल का व्यक्ति गांधी का होगा और उस कल की तलाश ही गांधीवाद की सही पीड़ा है । यहां गांधी व्यक्ति से परे एक व्यवस्था के रूप में सामने आते हैं । और यह सही भी है । कारण, सत्ता की चकाचौंध और व्यवस्था के मूलभूत रूपों में गांधी ने व्यवस्था को ही माना था । उनका दृष्टिकोण राजनीति में अध्ययन का था और राजनीति के तात्त्विक अन्वेषण में गांधी रचनात्मक कार्यों को प्रमुखता देते थे ।

यह सही है कि गांधी-युग में कुर्सी का व्यापक मोह इस प्रकार नहीं पैदा हुआ था और जब-जब कांग्रेस ने निर्देश दिये, लोग कुर्सी को छोड़ने में एक सेकंड भी देर नहीं करते थे । आज की राजनीति का मूलभूत सिद्धांत सत्ता है, व्यवस्था नहीं । और गांधी के सपनों को साकार रूप तब तक नहीं मिल पायेगा जब तक हम सत्ता, पैसा और वोट–इन तीन

आयामों में भटकते रहेंगे ।

रेल में, जहाज पर, किसी सभा में, सोने के कमरे में, किसी महापुरुष से बातें करते हुए, खाने की मेज पर, लिखने की टेबुल पर, सवेरे की चाय के साथ और बड़े-बड़े सिद्धान्तों के जामे में मुझे रह-रहकर गांव के उस मुखिया का वह सवाल कि 'गांधी का सपना पूरा होगा या नहीं' कौंध जाता है । और मैं सोचता हूं कि इस सवाल का उत्तर आने वाला कल शायद दे तो दे, आज इसका कहीं भी कोई उत्तर नहीं है और न तो इसके उत्तर ढूंढ़ने की किसी को फुर्सत ही है ।

गांधी की वापसी

सच में मुझे उस दिन ऐसा लगा कि मानो गांधी वापस आ गये। 2 अक्तूबर 1993 को संसद भवन के सामने गांधी जी की विशाल प्रतिमा स्थापित हुई, जिसका अनावरण राष्ट्रपति डॉ० शंकरदयाल शर्मा ने किया। उसके बाद वे केन्द्रीय कक्ष में आये जहाँ उनका, प्रधानमंत्री पी०वी० नरसिम्हा राव का, उपराष्ट्रपति श्री के० आर० नारायणन का तथा लोकसभा-अध्यक्ष श्री शिवराज पाटिल का भाषण हुआ। भाषणों में मेरी कोई विशेष रुचि नहीं है क्योंकि इन अवसरों पर मैं इन्हें रस्म-अदायगी मानता हूं लेकिन संसद भवन के सामने गांधी की विशाल प्रतिमा रस्म-अदायगी नहीं, एक अमूर्त सपने की मूर्त सच्चाई है।

मैं अतीत के उन गह्वरों में पहुंच गया जब गांधी जी 9 जनवरी, 1915 को दक्षिण अफ्रिका से भारत लौटे थे। अमूमन विदेशों से स्वदेश लौटने वाले किसी भी व्यक्ति के पास घरेलू और व्यक्तिगत सामानों की एक लंबी फेहरिस्त होती है, लेकिन गांधी जी के पास ऐसी कोई वस्तु नहीं थी, यदि साथ में कुछ था तो वह विशाल अनुभव-कोश तथा संघर्ष और त्याग का वह मनोभाव जो उन्होंने दक्षिण अफ्रिका के अपने 22 वर्षों के प्रवास में जमा किया था। 1893 में पहली बार एक बैरिस्टर के रूप में वे दक्षिण अफ्रिका पहुंचे थे। एक सामान्य वकील जिसे पोरबन्दर की दादा अब्दुल्लाह हक कं० ने अपने मुकदमों के सिलसिले में 105 पाउण्ड वार्षिक मेहनताना के करार पर अहमदाबाद से डरबन ले जाकर खड़ा किया था। 1883 में भारत से चलकर दक्षिण अफ्रिका पहुंचे गांधी और 1915 में दक्षिण अफ्रिका से चलकर भारत आये गांधी में जमीन-आसमान का फर्क था।

गांधी जी के दक्षिण अफ्रिका जाने के शताब्दी वर्ष 1993 में, वहां

जो समारोह हुए, उसमें भाग लेने भारत के तीन विशिष्टजन वहां गए थे— सर्वश्री डॉ० कर्ण सिंह, बी० आर० नन्दा तथा वेद मेहता। इन तीनों ने वहां से वापस आकर अपने अनुभवों को अपने-अपने ढंग से व्यक्त किया है, जो पठनीय हैं। यहां मैं श्री वेद मेहता की कुछ अनुभूतियां पाठकों तक पहुंचाता हूं–

"ज्यों-ज्यों 'काले कानून' का संघर्ष बढ़ता गया, गांधी ने ट्रांसवाल के बड़े भारतीय समुदाय के लिए फोनिक्स फार्म जैसे स्थान की जरूरत महसूस की जहां काले कानून का विरोध करने वाले और उनके परिवार के लोग रह सकें, भरण-पोषण के लिए काम कर सकें और इस तरह सरल और स्वर्णिम जीवन की फिर खोज कर सकें। अधिकांश विरोधी या सत्याग्रही के नाम से मशहूर लोग बहुत गरीब लोग थे और जेल चले जाने पर उनके परिवार निराश्रित रह जाते थे। रोज का भोजन न मिलने पर दुखी होने वाले सत्याग्रही को भी फाँसी दी जा सकती थी।" गांधी ने लिखा है, "संसार में ऐसे अधिक लोग नहीं हो सकते जो अपनी ही तरह अपने निकट प्रिय लोगों को भूखों मरते देख उनकी निन्दा करने को मजबूर किये जाने पर डटकर विरोध कर सकें।" जर्मन यहूदी वास्तुकार हर्मन कलेनबैच का अपना परिवार न था और वह गांधी का प्रबल अनुयायी था। उसने 1890 में जोहन्सबर्ग में 21 मील दूर 1100 एकड़ जमीन खरीदी और गांधी को बिना लगान दूसरे सामुदायिक केन्द्र के लिए दे दी। गांधी इसे 'टाल्सटाय फार्म' कहते थे जो 'युद्ध तथा शांति' के रचयिता टाल्सटाय के नाम पर नहीं वरन् बाद में जन्मे सनकी और धर्मान्ध टाल्सटाय के नाम पर था जिसकी मान्यता थी, "हमारा हृदय ही परमात्मा का राज्य है।" टाल्सटाय ने अपनी कलात्मक उपलब्धियों से मुख मोड़ लिया था, अपनी भूसंपत्ति और परिवार छोड़ दिया था, जायदाद का मालिक बनने में उसका विश्वास न था, वह धूम्रपान और मद्यपान छोड़ चुका था, जीवित प्राणियों का शिकार करना अथवा उनका मांस खाना उसे प्रिय न था, वह शारीरिक श्रम का समर्थक था, किसानों की पोशाक कुर्त्ता-पाजामा पहने वह रूस के देहाती क्षेत्रों में घूमा था और उसने रूढ़िवादी रूसी चर्च की निन्दा की थी जो ऐसी भौतिक शक्ति था जिसका लक्ष्य ईसा को कुचलना और सभ्यता का विरोध करना था। यह हिंसा पर आधारित था क्योंकि

रूसी सरकार भारी सेना के बल पर शासन करती थी। इन टाल्सटाय का उपदेश था कि मानव का उच्चतम आदर्श अन्य मानव बन्धुओं से प्रेम करना और ईसामसीह की तरह बुराई और हिंसा का विरोध करना है।

पुरुष, स्त्रियां और बच्चे टाल्सटाय फार्म में संयुक्त परिवार के रूप में रहते थे और यहां निर्भयता, आत्मनिर्भरता, स्वार्थ-त्याग, आत्म-बलिदान तथा दुख-भोग के सहारे जी रहे थे। उन्होंने गरीबी को गले लगाया था और अन्य लोगों तथा प्रकृति के साथ सामंजस्य रखते थे ताकि वे ब्रह्मचर्य, सत्याग्रह तथा अहिंसा का अभ्यास कर सकें एवं भ्रष्ट समाज तथा सरकार के खिलाफ अनिश्चित काल तक लड़ सकें। वे तड़के उठ जाते। वे हर जगह पहुंच जाते चाहे वह कितनी ही दूर क्यों न हो। गांधी अकसर सवेरे दो बजे उठ जाते, जोहन्सबर्ग तक 21 मील पैदल जाते, वकालत का काम करते और अपराह्न में फार्म में आ जाते। वे हिंसा न करते, यहां तक कि सांप को भी न मारते। वे अनाज उपजाते, गेहूं पीसते, रोटी पकाते, कैफीन-रहित दग्धशर्करा कॉफी गांधी के बताए नुस्खे के अनुसार बनाते थे। वे अपने लिए मेज-कुर्सी, कपड़े और चप्पल बनाते। वे रोज भगवद्गीता पढ़ने, प्रार्थना करने और उनके धर्मों के भजन गाने के लिए गांधी के पास आते। गांधी ने फोनिक्स फार्म में इस प्रकार के कई अभ्यास आरंभ कर दिये थे और अब टाल्सटाय फार्म में उन्होंने उन्हें जीवन पद्धति बना दिया था।"

1915 में जब गांधी जी भारत आए तो वह काल भारत के ऐतिहासिक धरातल पर समतोष्ण काल था। न बड़ी उद्विग्नता और न बिलकुल गमगीनी, बल्कि ऐसा मानना चाहिए कि राजनीतिक क्षितिज पर एक सुगबुगाहट अवश्य प्रारंभ हो गई थी, लेकिन वह आक्रामक से अधिक रस्म-अदायगी थी। देश में सबसे बड़ी अथवा एकमात्र राजनीतिक पार्टी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस थी, जिसके जन्मदाता स्वयं एक अंग्रेज जार्ज आक्टवियस ह्यूम थे तथा विलियम वेडरवर्न, यूल, डॉ० एनी बेसेंट जैसे विदेशियों का वर्चस्व भी उसके मंचों पर था। वैसे बाल गंगाधर तिलक, गोपालकृष्ण गोखले, महामना मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय सरीखे तेजस्वी नेताओं का उदय हो चुका था और दादाभाई नौरोजी से

लेकर उमेशचन्द्र बनर्जी तक कांग्रेस के जो भी नेता देश के सामने थे, उनकी बौद्धिक क्षमता के बारे में किसी प्रकार के संदेह की गुंजाइश नहीं थी, लेकिन उनकी आवाज में भारत के सामान्यजन का दर्द तथा आक्रोश व्यावहारिक रूप से नहीं फूट रहा था। उनके भाषणों में जहां एक ओर ब्रिटिश सरकार से कुछ मांगने की दयनीयता थी, वहीं कांग्रेस के प्रस्तावों में भी कुछ पाने की लालसा अथवा सुधारों की अपेक्षा ही अधिक दिखाई देती थी।

ऐसे ही समय में 1915 में गांधी जब भारत आए तब उनका बम्बई पहुंचने पर जोरदार स्वागत हुआ। दक्षिण अफ्रिका में 20-22 वर्षों का उनका प्रवास विचित्र स्थितियों-परिस्थितियों की दास्तान है। उसे किसी बैरिस्टर या समाजसेवक से अलग किसी ऐसे संघर्षशील व्यक्ति की कहानी मानना होगा, जो रहता तो था दक्षिण अफ्रिका में, लेकिन सोचता था भारत के बारे में। इस संबंध में सबसे बड़ा प्रमाण गांधी लिखित 'हिन्दी स्वराज' है, जो उन्होंने 1909 में लिखी थी, जिसकी विषय-सूची मेरे कथ्य का प्रमाण है–

कांग्रेस और उसके कर्त्ता-धर्त्ता, बंग-भंग, अशांति और असन्तोष, स्वराज्य क्या है ?, इंग्लैंड की हालत, सभ्यता का दर्शन, हिन्दुस्तान कैसे गया ?, हिन्दुस्तान की दशा-1, हिन्दुस्तान की दशा-2, हिन्दुस्तान की दशा-3, हिन्दुस्तान की दशा-4, हिन्दुस्तान की दशा-5, सच्ची सभ्यता कौन-सी ?, हिन्दुस्तान कैसे आज़ाद हो ?, इटली और हिन्दुस्तान, गोला-बारूद, सत्याग्रह-आत्मबल।

निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि दक्षिण अफ्रिका से भारत आने के पहले गांधी जी ने वहां सत्याग्रह और आश्रम संबंधी हर प्रकार के प्रयोग पूरे कर लिये थे तथा संघर्ष, सहिष्णुता, विवेक, त्याग, अहिंसा, सत्य, असत्य, श्रम और बलिदान संबंधी कई सोपान तय कर परिपक्व हो गए थे। उनके ये सारे प्रयोग परिपक्व रूप से भारत में काम आए। यह इस बात से प्रमाणित होता है कि दक्षिण अफ्रिका से भारत आने के दो-तीन वर्षों के अन्दर ही वह जहां एक ओर पूरे देशवासियों से परिचित हो गए, वहीं दूसरी ओर राजनीतिक तथा सामाजिक रूप से भी पूरे देश में छा गए। इसके लिए उन्हें काफी परिश्रम करना पड़ा और 1915-

16-17— इन तीन वर्षों के अंदर उन्होंने जहां भारत के एक छोर से दूसरे छोर का दौरा किया, वहीं साबरमती आश्रम की स्थापना, कांग्रेस के अधिवेशनों में भाग लेना, सभी नेताओं से संपर्क, चम्पारण-सत्याग्रह, अहमदाबाद के मिल-मजदूरों की समस्या, शिक्षा नीति, भाषा समस्या, अछूत समस्या, स्त्रियों की जागृति आदि अनेक विषयों से भी वे जुड़े रहे। एक ओर जहां गांधी जी ने तिलक, गोखले, लाला लाजपतराय, सी० आर० दास, मुहम्मदअली जिन्ना, अली बंधु, मोतीलाल नेहरू, श्रीनिवास टी० प्रकाशम्, ब्रजकिशोर प्रसाद से अपना संपर्क घनिष्ठ किया, वहीं दूसरी ओर महामना पंडित मदनमोहन मालवीय, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर, एनी बेसेंट आदि के साथ भी अपने को जोड़ा जो राजनीति से ऊपर शिक्षा-संस्कृति के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे थे।

गांधी जी को सही रूप में समझने तथा परिस्थितियों का आकलन करने के लिए जरूरी है कि उन तीन वर्षों के गांधी को हम अपने सामने रखकर आगे बढ़ें।

जैसा मैंने पहले ही कहा कि गांधी जी दक्षिण अफ्रिका से 9 जनवरी, 1915 में जब बम्बई पहुंचे तो उनका यहां पहुंचते ही गोखले जैसे नेताओं ने स्वागत किया और उनके अभिनन्दन में जो सभा हुई उसकी अध्यक्षता उस समय के बम्बई के प्रखर बैरिस्टर तथा राष्ट्रीय नेता श्री मुहम्मदअली जिन्ना ने की थी।

गांधी जी का महत्त्व उस समय भी ऐसा था तथा सुदूर दक्षिण अफ्रिका की हवा भारत में इस प्रकार पहुंच गई थी कि गोखले जी ने उन्हें खबर दी कि बम्बई के गवर्नर उनसे मिलना चाहते हैं। अपनी आत्मकथा में इसकी चर्चा गांधी जी ने इस प्रकार की है– "मेरे बम्बई पहुंचते ही श्री गोखले ने मुझे खबर दी कि बम्बई के गवर्नर आपसे मिलना चाहते हैं और पूना आने से पहले आप उनसे मिलते आयें तो अच्छा होगा। इसलिए मैं उनसे मिलने के लिए गया। मामूली बातचीत होने के बाद उन्होंने मुझसे कहा–

'आपसे मैं एक वचन लेना चाहता हूं। मैं चाहता हूं कि सरकार के संबंध में यदि आपको कहीं कुछ आंदोलन करना हो तो उसके पहले आप मुझसे मिल लें और बातचीत कर लें।' मैंने उत्तर दिया, 'यह वचन

देना मेरे लिए बहुत सरल है, क्योंकि सत्याग्रही की हैसियत से मेरा यह नियम ही है कि किसी के खिलाफ कुछ करने के पहले उसका दृष्टि-बिन्दु खुद उसी से समझ लूं और अपने से जहां तक हो सके उसके अनुकूल होने का यत्न करूं । हमेशा दक्षिण अफ्रिका में इस नियम का पालन किया है और यहां भी ऐसा ही करने का विचार रखता हूं ।'

इसके बाद के वर्षों का लेखा-जोखा न केवल गाँधी का, वरन् देश का और अपने राष्ट्रीय आंदोलन का विस्तृत इतिहास है । उसकी चर्चा विस्तार से करने की आवश्यकता है, अतः इन चर्चाओं को यहीं छोड़कर मैं अब सीधा चम्पारण में प्रवेश करता हूं । गांधी जी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है– "बिहार ने ही मुझे सारे हिन्दुस्तान में जाहिर किया । उससे पहले तो मुझे कोई जानता भी न था । बीस साल अफ्रिका में रहने के कारण मैं हब्शी-सा बन गया था । उसके बाद मैं चम्पारण में आया और सारा हिन्दुस्तान जाग उठा । पहले मैं जानता भी न था कि चम्पारण कहां है । लेकिन जब यहां आया तो मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मैं बिहार के लोगों को सदियों से जानता था और वे भी मुझे पहचानते थे ।" दंगे की आग में जब पूरा देश 1947 में जल रहा था, तो उसकी आग बिहार में भी लगी और उस आग को बुझाने गांधी जी भागे-भागे आए और उसी काल में 5 मार्च, 1947 को इन्होंने ऊपर लिखे शब्द पटना की महती सभा में व्यक्त किए । उस मैदान का नामकरण बाद में 'गांधी मैदान' हुआ ।

जैसे किसी मलबे के अंदर इतिहास का स्वर्णिम अध्याय छिपा होता है, वैसे ही न जाने कितने व्यक्ति और घटनाएं ऐसी हैं जो इतिहास को नयी रोशनी देती हैं और नया अध्याय जोड़ देती हैं । ऐसे ही व्यक्तियों में थे राजकुमार शुक्ल, बिहार प्रांत के चम्पारण जिले के एक मामूली-से किसान जिन्होंने गांधी जी को चम्पारण लाकर अपना तथा चम्पारण का नाम इतिहास में अमर कर दिया । इसके साथ ही बापू ने अपने अहिंसात्मक आंदोलन की जो शुरुआत चम्पारण की भूमि से की, वह भविष्य में भारत के लिए और विश्व के लिए प्रेरणा-स्त्रोत बना ।

दक्षिण अफ्रिका और चम्पारण की चर्चा मैं यहीं समाप्त कर रहा हूं और पुनः एक बार मैं 2 अक्तूबर, 1993 के केन्द्रीय कक्ष में उस

समारोह को अपने सामने रखता हूं जिसमें राष्ट्रपति डॉ० शंकरदयाल शर्मा का भाषण उनके हृदय की पीड़ा और राष्ट्रीयता का बोध बनकर हमारे सामने आया। हालांकि वह टंकित भाषण था लेकिन उससे अलग हटकर उन्होंने राष्ट्र की चेतना को जगाने का अथक प्रयास किया।

"मैं उन क्षणों को बार-बार अपने सामने रखता हूं लेकिन जो सबसे बड़ी बात मेरे सामने आती है, वह यह कि आजादी के 46 वर्षों में राष्ट्रनायकों को कम से कम यह सुधि आज आयी कि गांधी जी की मूर्ति बैठायी जाये, सरकार उसके लिए आश्वासन पर आश्वासन दिये जा रही है और विचार पर विचार हो रहे हैं लेकिन उसका कोई नतीजा नहीं निकला। मैंने जब अकस्मात 1 अक्तूबर, 1993 को संसद भवन से निकलते हुए गांधी जी की प्रतिमा को सामने देखा, सच में मुझे लगा मेरा सपना साकार हुआ। इससे संसद की और लोकतंत्र की गरिमा बढ़ी है।

गांधी और गांधीवाद प्रायः प्रश्नों के घेरे में आ जाते हैं। प्रासंगिकता और अप्रासंगिकता की चर्चाएं भी विश्वव्यापी फैशन है। लेकिन सबसे बड़ी मूर्तता गांधी की प्रतिमा मेरे लिए अमूर्त गांधीवाद की वापसी है।

अभी कुछ दिनों पूर्व मैं नार्वे गया था। वहां पुस्तकों की एक विशाल दुकान है, जिसमें गांधी सम्बन्धी सैकड़ों पुस्तकों में से मैंने एक पुस्तक 'गांधीज़ ट्रुथ' खरीदी। इसके लेखक श्री एरिक एच० एरिक्सन विश्वप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक हैं। भला इस आदमी को गांधी जी के संबंध में पुस्तक लिखने की जिज्ञासा कैसे हुई ? इसका उत्तर मुझे उनकी प्रस्तावना में मिला– "मुझे इस पुस्तक को लिखने की प्रेरणा महात्मा गांधी के मनोवैज्ञानिक मस्तिष्क तथा उनके सत्य के ऐतिहासिक प्रयोग का शोध करने के कारण हुई।" गांधी जी ने अपने जीवन को अपना संदेश कहा तथा अपने हर कार्य को सत्य का प्रयोग बतायां। श्री एरिक्सन ने गांधी जी के हर कार्य को मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से परखा है तथा उसका आकलन किया है।

'गांधीज़ ट्रुथ' तथा इसके लेखक श्री एरिक्सन की चर्चा मैं मात्र इसलिए कर रहा हूं, जिससे यह पता चले कि कैसे थे गांधी और कैसा था उनका जीवन-दर्शन तथा उनका प्रयोग, जो आइन्स्टीन से लेकर बर्नार्ड शॉ तक और रोम्यां रोलां से लेकर एरिक्सन तक को आकर्षित

करता रहा।

अमूर्त को मूर्त के रूप में प्रस्तुत करने की कला-चेतना भारतीय दृष्टिकोण का अंग रही है। महावीर और बुद्ध की हजारों प्रतिमाएं जहां एक ओर उनके प्रति श्रद्धा का बोध कराती हैं, वहीं दूसरी ओर हमारी कलात्मक उत्कृष्टता का भी दिग्दर्शन कराती हैं। संसद के सामने गांधी की विशाल प्रतिमा निश्चय ही सौ-दो सौ साल बाद वही चेतना उत्पन्न करेगी।

इस कला-खंड के वास्तुकार श्री राम सुतार हैं जिन्होंने ध्यानावस्थित गांधी को हमारे सामने बैठाया है। यह ठीक भी है। बापू की आंखें मुंदी हैं जिससे न तो कोई उनसे आंखें मिला पाए और न वे किसी के कृत्य को देख पाएं। संत्रस्त लोकतंत्र और उसके जन प्रतिनिधियों के लिए यह वरदान है कि गांधी जी उन्हें नहीं देख रहे हैं।

मैं जब भी विदेशों में लेनिन, मार्क्स, लिंकन, शेक्सपियर, सुकरात, होमर, गेटे आदि की विशाल प्रतिमाएं देखता तो मन में यह बात हूक के समान उठती थी कि भारत में भी गांधी जी की कोई ऐसी ही विशाल प्रतिमा इंडिया गेट पर या संसद भवन के सामने होती। निश्चय ही संसद भवन के सामने गांधी जी की यह प्रतिमा मुझे सच हो उठे सपने के समान लगी।

किसी ने बताया कि इस प्रतिमा का वजन लगभग 20 टन है। काले प्रस्तर में हर भावबोध का अंकन, वह भी प्रार्थना-मुद्रा में— यह गांधी जी का व्यक्तित्व कहा जायेगा या कलाकार की कलाकारिता।

जो भी हो, मेरी समझ में यह गांधी की वापसी है।

गांधी : आज के या कल के

गांधी प्रासंगिक हैं या अप्रासंगिक तथा गांधी कल के हैं या आज के और गांधी की उपयोगिता आज क्या है– जैसे अनेक प्रश्न प्रायः सुनने को मिलते हैं। इसके उत्तर में जवाहरलाल नेहरू का यह विचार मुझे सबसे अधिक उपयुक्त जान पड़ता है, "जैसे-जैसे वह बूढ़े होते गए, वैसे-वैसे उनका शरीर उनके भीतर की महान आत्मा का एक वाहन मात्र बनता गया। उन्हें सुनते या उन्हें देखते समय लोग उनके शरीर को एक प्रकार से भूल जाते थे। इसलिए वह जहां बैठते थे, वह मंदिर बन जाता था और वह जहां चलते थे, वह भूमि पवित्र बन जाती थी।"

गांधी बीते कल के या आज के आने वाले कल के इन प्रश्नों से टकराते हुए मुझे अमरीकी सेनापति जनरल मेकार्थर और सुप्रसिद्ध सामाजिक दार्शनिक नोएल बेकर की याद आती है। गांधी जी की हत्या का दुखद समाचार पाकर तत्कालीन अमरीकी जनरल मेकार्थर ने कहा था– "वह एक ऐसा महापुरुष था, जो अपने जमाने से कहीं आगे जीता था। किसी न किसी दिन दुनिया को गांधी जी की बात सुननी ही पड़ेगी, नहीं तो हिंसा के रास्ते दुनिया का विनाश हो जाएगा।"

और फिलिप नोएल बेकर का मानना था कि गांधी जी की महानतम उपलब्धियां तो अभी आने वाली हैं।

गांधी विश्लेषण, व्याख्या अथवा विवेचन के परे हैं, इस कथ्य का सत्य महान वैज्ञानिक आइन्स्टीन के शब्दों में झांकता है, जो उन्होंने गांधी जी की मृत्यु पर श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा था– "आने वाली पीढ़ी को मुश्किल से यह विश्वास होगा कि हमारे बीच भी कोई हाड़-मांस का ऐसा आदमी था।"

यह वर्ष गांधी जी की 125 वीं जयंती का वर्ष है। राष्ट्रीय पैमाने पर इसे मनाने हेतु प्रधानमंत्री श्री पी. वी.नरसिंह राव की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय समिति का गठन भी हुआ है, जो विस्तृत कार्यक्रम बना रही है। मानव संसाधन विकास मंत्री श्री अर्जुन सिंह उस समिति के कार्यकारी अध्यक्ष हैं। अतः इस वर्ष गांधी पर विस्तृत विचार एवं उनके रचनात्मक कार्यक्रमों को समझने-समझाने की विशेष आवश्यकता है।

गांधी जी का स्वयं के बारे में यह कहना था कि मेरा जीवन ही मेरा संदेश है। इसी भांति नीति तथा आचरण पर विशेष जोर देना उनकी कार्यपद्धति थी। इस रूप में सत्य, अहिंसा , विश्व-बंधुत्व, खादी, शारीरिक श्रम, भारतीय भाषाओं की उन्नति, स्वदेशी, अछूतोद्धार आदि समस्याओं को लेकर सामाजिक-राजनीतिक क्रांति करना गांधी जी के व्यक्तित्व की विशेषता थी। यहीं वे औरों से भिन्न थे तथा इस रूप में हमें यह लगता है कि गांधी और गांधीवाद दो न होकर एक हैं। कारण, दुनिया में जितने भी राजनीतिक दार्शनिक या चिंतक हुए उन्होंने दर्शन दिया, जिस पर दूसरों ने अमल किया, जैसे मार्क्स के सिद्धांतों को लेनिन ने मूर्त रूप देने की कोशिश की और चेग्वारा के कथ्य को कास्त्रो ने अपनाया, लेकिन गांधी इन सबों से भिन्न थे। स्वयं का दर्शन और स्वयं ही उसका कार्यान्वयन। कथनी और करनी दोनों में विचित्र समानता, जो कहा वह किया और जो किया वही कहा।

सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री और वैज्ञानिक डॉ. दौलतसिंह कोठारी ने एक बार मुझसे कहा था कि गीता और रामायण के समान ही गांधी जी की आत्मकथा– 'सत्य के प्रयोग' भी हर भारतीय घर में होनी चाहिए और हर भारतीय को उसे पढ़ना चाहिए। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, भारतीयता, सादगी तथा दृढ़ता के प्रतीक थे।

गांधी-जीवन के तीन वर्ष 1915, 1916 तथा 1917 मुझे सबसे ज्यादा प्रभावित करते हैं। 1915 में वे दक्षिण अफ्रिका से लौटकर आए और 1917 में उन्होंने बिहार के चम्पारण में अंग्रेजों के खिलाफ बड़े पैमाने पर सत्याग्रह की शुरुआत की तथा निलहों के अत्याचार से गरीबों-किसानों को मुक्ति दिलाई। पहली बार अंग्रेज सरकार झुकी और उसे वहां के कर तथा तिनकठिया कानून को रद्द करना पड़ा। गांधी जी का सत्य

के प्रति आग्रह का ही यह कमाल था। चम्पारण -सत्याग्रह ने मोहनदास करमचंद गांधी को 'महात्मा गांधी' बना दिया और देश तथा दुनिया में इस एक कार्य ने उन्हें सुप्रसिद्ध कर दिया। इस संबंध में स्वयं गांधी जी ने अपनी जीवनी में लिखा है– "सारे हिन्दुस्तान को सत्याग्रह का अथवा सविनय भंग का पहला स्थानीय यथार्थ– पाठ मिला। अखबारों में इसकी खूब चर्चा हुई और चम्पारण को तथा मेरी जांच को अनपेक्षित रीति से प्रसिद्धि मिल गई।"

गांधी-जीवन के जिन तीन वर्षों की मैंने चर्चा की उस पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है, लेकिन यहां उस विस्तार की गुंज़ाइश नहीं है। यहां यह उल्लेख कर दूं कि 1915, 16, 17 इन तीन वर्षों के अन्वेषण -काल में गांधी जी देश की राजधानी दिल्ली में मात्र 17 दिन रहे जबकि कतिपय अन्य बड़े नगरों तथा कस्बों में गांधी जी का प्रवास 1 से 100 दिनों तक का रहा। यह भी मार्के की बात है कि 1915 में वे कुल मिलाकर लगभग 165 दिन गुजरात में रहे और 1917 में चम्पारण-सत्याग्रह के दिनों में बिहार के मोतिहारी, बेतिया, पटना, भागलपुर, मुजफ्फरपुर में कुल मिलाकर उनका प्रवास 167 दिनों का रहा।

इस प्रकार प्रारंभ से लेकर अंत तक गांधी जी का जीवन किसी महागाथा के समान उतार-चढ़ाव का रहा है। उनके अंदर विचित्र संकल्पना और ऊर्जा थी। उनका दृढ़ व्यक्तित्व विचित्र समन्वयकारी था।

एक छोटी-सी लंगोटी और ऊपर से चादर ओढ़े गांधी जी को सेवाग्राम की उनकी कुटिया में लुई फिशर ने जब पहली बार देखा, तो वे बकरी को घास खिला रहे थे। 1942 के झंझावाती दिन, जब पूरी दुनिया द्वितीय विश्वयुद्ध की भयंकर चपेट में थी और गांधी जी स्वयं अगस्त-क्रांति का ताना-बाना बुन रहे थे, इस निश्चिन्तता और सहजता से गांधी जी को देखकर वह विश्वप्रसिद्ध पत्रकार आश्चर्य में डूब गया और उसने लिखा– "आधुनिक इतिहास के नामी व्यक्ति चर्चिल, रूजवेल्ट, लॉयड जार्ज, स्टालिन, हिटलर, वुडरो विल्सन, कैसर, लिंकन, नैपोलियन, मैटरनिच, तालेरां आदि के हाथों में राज्यों की सत्ता थी। लोगों के मानस पर प्रभाव डालने में गांधी जी के मुकाबले का एकमात्र गैरसरकारी व्यक्ति कार्ल मार्क्स समझा जा सकता है। व्यक्तियों की अतंरात्मा पर गांधी जी के

समान जबर्दस्त असर डालने वाले आदमियों की तलाश में हमको सदियों पीछे जाना पड़ेगा। पिछले युग में ऐसे लोग धर्मात्मा हुए हैं।... गांधी जी ईश्वर या धर्म के बारे में उपदेश नहीं देते थे, वह तो स्वयं जीते-जागते धर्मोपदेश थे। जिस संसार में सत्ता, धन, अहंकार के क्षयकारी प्रभाव के सामने टिकने वाले नहीं के बराबर हैं, उसमें गांधी जी एक उत्तम पुरुष थे। बिजली, रेडियो, नल और फोन से वंचित एक छोटे-से भारतीय गांव की कुटिया में वह जमीन पर आधे से अधिक नंगे बैठे हुए थे। यह स्थिति श्रद्धान्वित भय, पोपलीला या काल्पनिक गाथा को बढ़ाने में जरा भी सहायक नहीं हो सकती थी। हर दृष्टि से वह धरती के निकट थे। वह जानते थे कि जीवन का अर्थ है जीवन की छोटी-छोटी बातें।"

रोम्यां रोलां ने जब गांधी जी का चित्रण प्रारंभ किया, तो उन्हें गांधी जी का कोई ओर-छोर ही न दिखाई दे—कहां से शुरू करें और कहां समाप्त करें! "पहली नजर में कमजोर दीखने वाले गांधी मजबूत आदमी हैं। उनके लम्बे और पतले हाथ– जो उनके कपड़ों की बांहों के नीचे लटक रहे हैं– केवल हड्डी, नसों और मांसपेशियों से बने हैं। ऐसे शांत, तेजवान और सदैव अपने पर नियंत्रण रखने वाले व्यक्ति की चंचलता का पता मुझे उसकी निरंतर बनी रहने वाली सक्रियता से लगता है।"

सच में गांधी का आकलन तथा मूल्यांकन दोनों कठिन है। 1940 के आसपास एक कवि ने दो पंक्तियों में उन्हें चित्रित करने की कोशिश की थी–

"छोटी-सी लंगोटी एक बोटी पर मांस लिये, चालीस करोड़ भारतीयता की थाती है। भारत के भाग्यभानु कर्मवीर गांधी तेरे, एक हाथ गात पर हजार हाथ छाती है।"

मुश्किल काम है गांधी का मूल्यांकन। उन्होंने सत्य को निष्ठा से, निष्ठा को आचरण से, आचरण को नीति से, नीति को दृढ़ता से, दृढ़ता को संघर्ष से, संघर्ष को त्याग से, त्याग को मर्यादा से, मर्यादा को धर्म से, धर्म को राजनीति से तथा राजनीति को स्वराज अथवा रामराज्य के साथ जोड़ा था। साध्य तथा साधन की पवित्रता गांधी जी के वैयक्तिक अनुराग थे। अहिंसा को उन्होंने अपनी साधना का सबसे बड़ा हथियार बनाया। इस रूप में गांधी जी महावीर और बुद्ध की परम्परा को आगे

बढ़ाते हैं ।

आज गांधी संबंधी लगभग पचास नयी पुस्तकें प्रति वर्ष दुनिया के हर कोने में अनेक भाषाओं में प्रकाशित होती हैं, जो इसका संकेत देती हैं कि गांधी कभी अप्रासंगिक नहीं हो सकते ।

2 अक्तूबर, 1993 को गांधी जी की एक विशाल मूर्ति संसद-भवन के सामने स्थापित की गई जिसका अनावरण राष्ट्रपति डॉ० शंकरदयाल शर्मा ने किया । उस समय कहे गए उनके वाक्य मेरे कानों में अभी तक गूंज रहे हैं—

"देश या दुनिया में गांधी जी की यह सबसे विशाल प्रतिमा है । अपनी आंखें मूंदे, प्रार्थना मुद्रा में ध्यानावस्थित गांधी बुद्ध की याद दिलाते हैं ।"

कृतज्ञ राष्ट्र ने उन्हें राष्ट्रपिता कहकर अपने को गौरवान्वित किया, लेकिन वहीं कृतघ्नता का पाप भी हमारे ऊपर लगा 30 जनवरी, 1948 को अपने ही हाथों उनकी हत्या करके ।

काल की गोद में सोए गांधी हमारे लिए कालातीत हैं । उनकी 125 वीं वर्षगांठ पर कृतज्ञ राष्ट्र उन्हें याद कर अपने कर्तव्य की पूर्ति कर रहा है ।

कहां है गांधी जी का परिवार ?

देश-दुनिया के हर व्यक्ति के मन में एक स्वाभाविक जिज्ञासा उठा करती है कि बापू का परिवार कहां है ? उस परिवार में कौन-कौन सदस्य थे ? उनमें इस समय कौन जीवित है तथा कौन नहीं रहे ? इन प्रश्नों के उत्तर सरल भी हैं तथा कठिन भी। सरल इस अर्थ में कि गिनती के रूप में इन्हें प्रस्तुत किया जा सकता है, लेकिन कठिन इस अर्थ में कि परिवार के हर सदस्य का यदि विवरण प्रस्तुत नहीं किया गया तो गांधी-परिवार के साथ न्याय न होगा।

हालांकि सही बात यह है कि गांधी जी का परिवार पूरा देश था। मानवता ही उनके लिए पारिवारिकता थी। फिर भी राम हों या कृष्ण अथवा महावीर हों या बुद्ध; हर किसी की वंशावली उलटी-पलटी जाती है तथा दशरथ से लेकर शुद्धोधन तक की चर्चा हम इस क्रम में करते हैं। अतः गांधी जी, जिन्हें पूरा देश बापू कहता था और जो राष्ट्रपिता के रूप में समादृत हुए, उनकी व्यक्तिगत वंशावली को यहां इसलिए दे रहा हूं, जिससे गांधी की समग्र चर्चा का बोध इसके द्वारा हो जाए।

मैं स्वयं इस जोखिम को उठाने के लिए भी तैयार नहीं हूं, क्योंकि गांधी जी का जीवन न तो कोई इतिवृत्त है और न इतिहास का लेखा-जोखा। अतः मैं महात्मा गांधी की पौत्री श्रीमती सुमित्रा कुलकर्णी का सहारा लेता हूं, जो गांधी-परिवार की एक सशक्त कड़ी के अतिरिक्त मेरी 'दीदी' भी हैं। उन्होंने आज से सात-आठ वर्षों पूर्व गांधी और गांधी-परिवार की पूरी विस्तृत कहानी 'अनमोल विरासत' के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत की। तीन खंडों में, लगभग आठ सौ पृष्ठों में सन्निहित 'अनमोल विरासत' गांधी जी का बचपन और सत्याग्रह के प्रयोग, कथा गांधी और आजादी की तथा गांधी : व्यक्तित्व और परिवार—उस महामानव के साथ-

साथ पारिवारिक संदर्भ तथा अनेक अछूते प्रसंगों की हिफाजती दास्तान है। चूंकि 'अनमोल विरासत' की लेखिका गांधी-परिवार की प्रवक्ता भी कही जा सकती हैं, अतः वह अनमोल विरासत पुस्तक मात्र न होकर हमारे लिए संदर्भ तथा दस्तावेज भी है।

इसके तीसरे खंड के अंत में परिशिष्ट-एक में गांधी-परिवार का पूर्ण परिचय दिया गया है, जिसे यह मानते हुए भी उद्धृत कर रहा हूं कि 1988 में दी गई यह सूची अब कहीं न कहीं कोई संशोधन खोजती होगी, लेकिन इतना पुष्ट तथा विस्तृत विवरण हमें और कहां उपलब्ध हो पाएगा।

'गांधी जी का परिवार कहां है' निश्चय ही हमारी जिज्ञासा शांत करेगी।

इतने मात्र से मुझे संतोष नहीं हो रहा है। बात 1975 की है। मैंने सुमित्रा दीदी से यह अनुरोध कई बार किया कि आप 'गांधी परिवार कहां है' की एक टिप्पणी या वंशावली तैयार कर दें। उन दिनों वह राज्यसभा की सदस्या थीं तथा मैं लोकसभा में था। उन्होंने मेरी प्रार्थना पर एक विस्तृत टिप्पणी तैयार की, जो 1976 में दिल्ली के 'नवभारत टाइम्स' में तीन किश्तों में प्रकाशित हुई। इससे लोगों को गांधी-परिवार के संबंध में विस्तृत जानकारी मिली। बिना किसी संशोधन के उस सामग्री को भी मैं पाठकों तक इसलिए पहुंचा रहा हूं कि गांधी-परिवार की सदस्या श्रीमती सुमित्रा कुलकर्णी से अधिक जानकार और कौन होगा, जो इस संबंध में कलम चलाए।

"गांधी जी का परिवार कहां हैं ?" आपके सामने है....

"सौ वर्ष पूर्व हमारा परिवार पोरबन्दर का रहने वाला था, मगर जीवन की लम्बी यात्रा में अभी तक वहां जाने का अवसर नहीं मिला। जब पहली बार वहां गयी तो हृदय एक अप्रत्याशित भाव से स्तब्ध था। अब तो राष्ट्र ने उस छोटे-से मकान को, जहां गांधी-परिवार के पूर्वज रहते थे, एक स्मारक का रूप दे दिया है और आसपास के एक-दो मकानों को और मिलाकर संगमरमर में विशाल कीर्ति मन्दिर की स्थापना की है। मगर मैंने कुछ अव्यक्त भावनाओं से घिर उस गृह में प्रवेश किया। दिल चाहता था कि मेरे हृदय की या परिवार के इस पुरातन घर की नीरवता

को कोई भंग न कर दे। कहीं उसको छू न दे कि वह अदृश्य हो जाय। दरवाजे से भीतर जाते ही लगा कि बीच के 100 साल का परदा किसी ने धीमे से खिसका लिया और फिर से मैं उस प्राचीन काल में पहुंच गयी, जब करमचंद गांधी पोरबन्दर के राजा के दीवान थे और बड़ी सुन्दर-सी, नाजुक-सी यथानाम तथारूपा पुतली बा इसी दालान से अन्दर-बाहर जाती-आती होंगी। छोटा-सा रसोईघर था। वहीं पर समस्त परिवार का भोजन बनता होगा। मैं मन ही मन सारी कल्पना करने लगी। कितना सारा काम वे संभालती होंगी और उस काल की कठिनाइयां रहते हुए भी वे निष्ठापूर्वक अपना गृहस्थाश्रम चलाती होंगी।

पोरबन्दर का घर

इसी मकान के मध्य खंड में हमारे दादा मोहनदास का जन्म हुआ था। सारा घर चौड़ाई में बड़ा छोटा था, मगर तीन मंजिला था। संकरे-से जीने से ऊपर जाने की व्यवस्था थी। सीढ़ी इतनी सीधी थी कि रस्सी के सहारे ही चढ़-उतर सकते थे। सोच रही थी कि कैसे पुतली बा नाजुक पांवों से झट-झट इस जीने पर चढ़ती होंगी। गजब की कठिन सीढ़ियां हैं—जरा बेध्यानी हुई कि नीचे गिरने का खतरा था। पावस ऋतु में पुतली बा चातुर्मास का व्रत रखती थी और सूर्य के दर्शन के पश्चात ही भोजन ग्रहण करती थी। कई बार चिंतित बच्चे वर्षाकालीन बादलों के बीच मुश्किल से बाहर झांकनेवाले भगवान् भुवन-भास्कर के दर्शनार्थ जल्दी-जल्दी अपनी मां को छत पर ले जाते होंगे, मगर वहां जाने तक भगवान् का सुवर्ण मुख पुनः मेघाच्छादित हो जाता। परन्तु धर्मपरायण पुतली बा दो-दो, तीन-तीन दिन तक रवि-दर्शन के अभाव में भूखे रह जाती, मगर व्रत-भंग न होने देती और हंसकर टाल देती, "कल खा लूंगी।"

इसी घर में मोहन की पत्नी कस्तूरबा, हमारी दादी, भी दुल्हन के रूप में आयी होंगी। उनका शयन-कक्ष एकदम ऊपर था। दो-तीन जीने पार करके ही वहां पहुंचा जा सकता था। कैसे बेचारी घूंघट में रहकर भी ऊपर-नीचे इन तंग एकदम खड़ी सीढ़ियों पर चढ़ती-उतरती होंगी?

यहीं पर मेरा और हमारे परिवार का प्रारम्भ हुआ था। इसी घर की भूमि पर उन प्रिय व्यक्तियों के पदचाप पड़े होंगे। इन्हीं दीवारों ने उनके जीवन की रोज-रोज की कहानी देखी होगी। कैसे थे वे दिन और

आज हम कहां हैं ? मगर मूल हमारा यहीं था। इतना ही छोटा और सादा, इतना ही कार्यनिष्ठ और उस संकीर्ण सोपान के समान सीधा, यद्यपि कष्टमय ।

पोरबंदर भारत के पश्चिमी तट पर स्थित है। सामने ही अरब सागर अपनी गरिमा में लहराता है। बड़ा ही साफ-सुथरा सागर-तट है। कहीं कीच-पंक का नाम-निशान नहीं है और अपार जल-राशि की नीली फेनिल लहरें आ-आकर पोरबंदर-पुलिन को प्रक्षालित करती हैं। मनुष्य बस्ती से इतने पास होते हुए भी यहां पर एकदम शांति और उच्चस्तर की स्वच्छता है। एक और विशेषता यह है कि लगभग सारा समुद्री किनारा हरियाली, वन्या और नारिकेल वृक्ष से वंचित है। या तो पीली बादामी रेत के आलोक वृत्त हैं या फिर धीर गंभीर निनाद करता हुआ स्फटिक सुन्दर नीलाम्बर रत्नाकर है, जिस पर सुनहरी चटकीली प्रखर सूर्य-किरणें थिरकती हैं। किनारे के मकान सारे रेत के ही रंग के पत्थर के बने हैं। शायद ही कहीं ईंट का मकान नजर आता हो—या तो पत्थर या संगमरमर। आज तो संस्कृति और औद्योगीकरण के विकास के साथ-साथ पोरबंदर का क्षितिज भी कपड़ा, सीमेंट और कैमिकल मिलों की चिमनियों से भरा है। मगर 1869 में जब पूज्य बापू जी का जन्म हुआ, तब यह स्थान बहुत ही शांत, स्वस्थ और सुन्दर रहा होगा, जिसकी निःस्तब्धता और निश्छलता ने ही उनके आरंभिक चरित्र-गठन की नींव डाली होगी ।

तब से लेकर अब तक के इतिहास की कड़ियों से सभी परिचित हैं, मगर कई बार ऐसी प्रतीति हुई कि बापू जी और उनके परिवार के बारे में निर्विकार तथ्य का प्रतिपादन करने की आवश्यकता है। समाज और देश-विदेश के लोग बापू जी को एक महान नेता, विचारक, क्रान्तिकारी, सामाजिक समस्या के माहिर और अहिंसा के प्रखर पुजारी की तरह जानते हैं ।

इन सब कारणों से साधारणतया समाज में यह धारणा है कि महात्मा गांधी का कोई पारिवारिक जीवन नहीं रहा होगा। आखिर वे तो हमेशा से वसुधैव कुटुम्बकम् के व्यापक अर्थ में जिये और आश्रमों में बिखरे रहे। मगर इन सब तथ्यों के बावजूद बापू जी का पारिवारिक जीवन बहुत ही मधुर था और अंत तक, जब तक वे जीवित रहे तब तक,

उनमें और उनके चारों बेटों और बच्चों के बीच अगाध प्रेम और सतत सम्पर्क रहा। अपना कहने को हमारे पास न कोई शहर है, न घर है। बापू जी के पास पैतृक सम्पत्ति भी कुछ नहीं थी और किसी एक स्थान से वे अनुबंधित भी नहीं थे।

न कोई घर, न शहर

शायद यही कारण है कि हमारा न कोई घर है या शहर है, ऐसी कोई भावना हमारे परिवार के हम बच्चों के दिल में पाली-पोसी नहीं। हम जहां कहीं रहे, वहीं हमारा घर बना और जो कोई भी साथी-संगी रहे, वे हमारे आत्मीय रिश्तेदार बने। इन सबके मध्य भी हमारा अंतरंग प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुरूप रहा। बापू जी और दादी में गहरा प्रेम था। जब-जब हमारी दादी कस्तूरबा बीमार पड़ीं तो बापू जी ने उनकी एकनिष्ठ सेवा की। दादी को स्वास्थ्य के लिए नमक खाना छोड़ने को कहा गया तो बापू जी ने स्वयं नमक छोड़कर उनको ऐसे कठिन प्रयोग करने की हिम्मत दी। उसी प्रकार दादी भी अपने विलक्षण पति की अनेक विचित्र मांगों को पूरा करती रही और उनके सारे प्रयोगों में साथ देती रही। उनकी पति-भक्ति इतनी उदात्त थी कि हर तरह के कठिन परिश्रम और परिस्थितियों को वे अपनी सहजता से निभा ले गयीं। उस काल के दम्पति एक-दूसरे के साथ एकनिष्ठ हों, यह शायद स्वाभाविक था। मगर इन दोनों में एक विशिष्ट आकर्षण भी था, एक-दूसरे के प्रति अपूर्व प्रीति थी।

सुन्दर कस्तूरबा

कस्तूरबा बड़ी सुन्दर रही होंगी। मेरी 12-13 साल की उमर तक वे इहलोक छोड़ चुकी थीं, मगर अभी भी उनकी चपल फुर्तीली आकृति को याद करती हूं तो उनके सुन्दर हाथ-पांव और सुन्दर चेहरा आंखों के सामने तैरता है। अत्यन्त सुघड़ता से साड़ी पहनने वालों में से वे एक थीं और उनके आस-पास कहीं गंदगी, अव्यवस्था का नाम न रहता था। वे आश्रम के सामूहिक रसोईघर की एकछत्र अधिष्ठात्री थीं और वहां पर उनका ही कानून चलता था। देश-देश के आगन्तुक को पहले दादी की पाकशाला में ही प्रशिक्षण लेना पड़ता था और वहां पर थाली, कटोरी,

चम्मच-कड़छी, पतीलों की धातु-ध्वनि के बीच अंग्रेजी, हिन्दी, तमिल, मराठी, गुजराती, बंगाली, असमिया ऐसी अनेक भाषा के प्रयोग सुनाई देते, मगर दादी उन सबके बीच अपनी गुजराती से रास्ता निकालतीं और आश्रम-परिवार के भरण-पोषण की व्यवस्था देखतीं। चाहे कोई कहीं से क्यों न आता, एकाध महीने में सभी लोग थोड़ी-बहुत गुजराती बोलने लगते थे। उनके सिवा दादी के साथ काम करना कठिन था।

खाने के प्रयोग

आश्रम के खाने-पीने के अनेक प्रयोगों और सिद्धान्तों के बीच भी दादी अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व रख पाती थीं, यह उनकी विशेषता थी। सारे आश्रम में चाय या कॉफी के लिए मात्र दादी को ही छूट थी और देश के बड़े-बड़े नेता बापू जी के साथ गंभीर चर्चा-विचारणा के पश्चात चाय की प्याली के लिए बा की शरण खोजते थे। वे भी इतनी वात्सल्यपूर्ण थीं कि कोई भी किसी भी समय क्यों न आ जाय, उसका स्वागत करतीं। वे साक्षात् अन्नपूर्णा थीं। मुझे जो विशेष स्मृति है और जिसकी याद से आज भी हंसी आती है वह है, जब बा अपनी टूटी-फूटी अंग्रेजी में अपने दक्षिण भारतीय समधी राजाजी से बैठकर बात करतीं और अपने छोटे लड़के के श्वसुर के प्रति नाजुक रिश्ता निभातीं। उसी प्रकार उनमें और बादशाह खान सीमांत गांधी अब्दुल गफ्फार खान में बड़ी मैत्री थी। कहां छह फुट से भी अधिक लम्बे बादशाह खान, कहां साढ़े चार फुट की नन्ही गुड़िया जैसी बा ! दोनों को आश्रम के प्रांगण में साथ घूमते देखकर खुशी भी होती थी और हंसी भी आती थी। किसी भी आने-जानेवाले के साथ बादशाह खान पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत के स्वादिष्ट रसीले फल और मेवे बा की पाकशाला के लिए अचूक भेजते थे।

बापू जी और बा उम्र के बराबर थे। शायद बा दो-चार महीने बड़ी ही थीं। बा लगभग अपढ़ थी, मगर पत्र लिख लेती थीं। परन्तु आसपास क्या चल रहा है, यह वे अच्छी तरह समझती थीं। बापू जी के सारे मित्र, शिष्य, साथियों से उनका गहरा लगाव था। बौद्धिक स्तर में बापू जी से इतना पीछे होते हुए भी देश के सभी नेताओं को और आश्रम के अतिथियों को बा अच्छी लगती और उनसे मिले बिना या प्रेम की बात किये बिना वे लोग विदा नहीं लेते थे, फिर चाहे नेहरू जी हों या

मौलाना आजाद, राजेन्द्र बाबू हों या राजगोपालाचारी, सबकी वे वात्सल्यमयी मां थीं और उदारता से उन्होंने अपने आश्रम में सबका स्वागत किया।

बापू जी और बा के 4 बेटे थे और उनके 14 पौत्र थे। बापू जी, बा और चारों बेटों में एक अकथ्य प्रेम था। प्रत्येक लड़का अपनी अलग विशेषता रखता था। मगर उससे उन चारों भाइयों या मां-बाप में कोई अंतराव नहीं आया।

सबसे बड़े हरिलाल काका थे। उनका जन्म बापू जी के इंग्लैंड पढ़ने जाने के पूर्व हुआ था। उन्होंने बाल्यकाल में अनेक कष्ट देखे होंगे। उनके बचपन में ही बापू जी विदेश रहे और हरिलाल मां के साथ ताऊ जी के पास रहे। उन्हें पैसों का अभाव रहा होगा। वास्तव में वे गांधी-पुत्रों में सबसे ज्यादा प्रतिभावान और शक्तिशाली थे। उन्होंने भारत में मैट्रिक पास किया था। उनकी शादी बापू जी के मित्र की कन्या गुलाब के साथ तय हुई थी। बापू जी और बा अफ्रिका में थे, तभी बापू जी के बड़े भाई लक्ष्मीदास दादा ने उनका विवाह गुलाब के साथ कर दिया। सुनते हैं, गुलाब काकी बहुत ही कमनीय रूपवती महिला थी। बापू जी को इस बात पर थोड़ा बुरा लगा था कि उनकी अनुपस्थिति में उनके ज्येष्ठ पुत्र की शादी इस प्रकार हड़बड़ी में क्यों कर दी गयी। परंतु इस अन्तराव के बावजूद पिता-पुत्र में प्रगाढ़ प्रेम था। तुरन्त बापू जी ने अपने पुत्र हरिलाल और पुत्रवधू गुलाब को अफ्रिका बुलवा लिया। वहां पर हरिलाल काका बापू जी के साथ अफ्रिका में बसने वाले भारतीयों की समस्याओं के समाधान के लिए काम करने लगे और सत्याग्रह की मीमांसा को पूर्ण रूप से समझते हुए आत्मसात् कर उस पर अमल करते। जब कभी बापू जी समय नहीं निकाल पाते या परिस्थितिवश कुछ कदम न उठा पाते तो हरिलाल काका ही आगे बढ़कर जिम्मेदारी संभालते। अफ्रिका के सत्याग्रह में हरिलाल गांधी छह बार जेल गये और हर बार उन्होंने वहां की गोरी सरकार के सामने कठोर सत्याग्रह का परिचय दिया। यहां तक कि उस काल में लोग उन्हें छोटे गांधी कहने लगे थे और हर जगह उनके नेतृत्व में काम होता था। जब हरिलाल काका की ज्येष्ठ कन्या का जन्म हुआ, तब वह पहली बार पकड़े गये थे और उन्हें छह महीने

की सख्त कैद फरमायी गयी थी। अफ्रिका की अमानुषिक जेल की कल्पना हम भारतवासी तब भी नहीं कर पाते थे और अब तो जमीन-आसमान का फर्क है। मगर यातनाओं, प्रताड़नाओं, शारीरिक कष्ट आदि किसी भी बात की परवाह किये बिना हरिलाल काका ने अफ्रिका के सत्याग्रह में पूरी जिम्मेदारी निभायी और सतत संघर्ष करते रहे। उनके उत्कट राष्ट्र-प्रेम और बुद्धिमत्ता से प्रभावित होकर बापू जी के मित्र ने उन्हें बैरिस्टरी पढ़ने के लिए लंदन आने का निमंत्रण दिया। इस समय हरिलाल काका जेल में थे और बापू जी ने पुत्र की योग्यता पर विश्वास होते हुए भी आश्रम के एक दूसरे युवक को इंग्लैंड भेज दिया; यद्यपि यह व्यक्ति एक महीने में ही इंग्लैंड से घबराकर लौट आया। इस घटना से हरिलाल काका को बड़ी निराशा हुई और क्षोभ भी हुआ। उनको इस अन्याय से ठेस पहुंची। यह बापू जी की विशेषता थी कि उन्होंने अपने सुयोग्य पुत्र को आगे न करके मध्यम स्तरीय युवक को मौका दिया। शायद इसी अनासक्ति और निःस्वार्थ भावना से वह महात्मा बने। मगर हरिलाल काका के प्रति वह अन्याय ही था और वह इस बात को भुला न पाये। 1915 में बापू स्वदेश लौटे और उन्होंने अहमदाबाद में कोचरब आश्रम की स्थापना की। यहां पर भी हरिलाल काका ने आश्रम-स्थापन में सहायता की। मगर उनके दिल के घाव ने उन्हें स्वतंत्र मार्ग अपनाने को प्रेरित किया। वह कलकत्ता जाकर रहने लगे और कुछ वर्षों में ही उस महानगरी के मोहजाल में फंस गये। फ्लू की बीमारी के दौर में हरिलाल काका का एकमात्र आशादीप गुलाब काकी का भी देहावसान हो गया और उनके साथ-साथ हरिलाल काका के जीवन का प्रेम-प्रकाश लुप्त हो गया। वे सब ओर से बिछुड़कर एकाकी बन गये और फिर उनकी व्यथा-गाथा का करुणामय अंत हुआ। महात्मा के लड़के के नाते कई लोगों ने उनके यश का दुरुपयोग किया। उन्हें बहकाया, उन्हें मुसलमान बनाया। इसी सिलसिले में अब्दुल्ला गांधी नामकरण भी किया गया। फिर आर्य समाज ने उन्हें हिन्दू बनाया और वह एक यायावर की तरह भटकते रहे। उनके दो पुत्री और दो पुत्र थे, मगर काका का जीवन पूर्व प्रतिभा का भग्नावशेष भर था। बीच-बीच में वह हम लोगों के घर आते और बहुत प्रेम से रहते। मगर तुरन्त चार-पांच दिनों के बाद वे हमारे प्रेमपाश को तोड़कर कहीं दूर चले जाते।

इन सब मानसिक यंत्रणाओं के बीच उन्होंने अपनी मां को और अपने पिता को हमेशा प्यार किया। काका के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी और अपने अकिंचन जीवन में से दो-चार पैसे बचाकर भी वह जब कभी अपनी मां के दर्शनार्थ आते तो साथ में फल ले आते। उन्होंने जीवन के आखिरी क्षण तक अपनी मां को अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति से प्यार किया। संसार ने उन्हें भर्त्सना दी, उन्हें ठुकराया। उन चोटों से वह टूट-टूट गये, मगर उन्होंने कभी अपनी मां के प्रति अपनी श्रद्धा को कम न होने दिया। अपने पिता के साथ उनका आमूल विचार-भेद हो गया, मगर वह भी वास्तविक न था। वह समाज, स्वतंत्रता-संग्राम और सत्याग्रह के सैनिकों की आस्थाओं और त्रुटियों—दोनों को बड़ी पैनी दृष्टि से समझते-बूझते थे। बापू जी को किसी की भी त्रुटि निकालने में रस न आता था और शायद यही बाप-बेटे के बीच का मूल भेद था। अंत तक मां कस्तूरबा अपने प्रथम पुत्र और पति के बीच की इस खाई से विपन्न होती रही, यह हमारे परिवार का एक करुण खंड है। मगर इन सब कष्टों-यातनाओं के पश्चात् भी भग्नहृदय हरिलाल काका एक प्रेमी और विलक्षण सहृदय व्यक्ति थे। परिवार में जब-जब कहीं आफत आयी या बापू जी बीमार रहे अथवा उन्होंने मरणांतक उपवास किये तो हरिलाल काका अचूक पहुंचते और लाखों देशवासियों के साथ वह भी अपने पिता के स्वास्थ्य की चिन्ता करते। तिरस्कृत होते हुए भी मौन व्यथा के प्रतीकी वह वहां से हटते नहीं थे। उनको लोगों ने शायद ठीक समझा नहीं और उनके पिता ने अपने ज्येष्ठ पुत्र का भविष्य बलिदान कर भारत की आजादी का संग्राम चलाया। बाप-बेटे विमुख हो गये, मगर अन्दर से दोनों को ही एक-दूसरे के प्रति अकथ्य लगाव था, जो निरन्तर बना ही रहा। हरिलाल काका के किस्से में बापू जी महात्मा-पद से ऊंचे उठकर मानव बन जाते थे।

हरिलाल भाई के दो लड़के थे, दो लड़कियां। उनमें सबसे छोटा रसिक बड़ा कुशाग्र और मस्त लड़का था। 1920 की अवधि में डॉ० जाकिर हुसेन को जामिया मिलिया में हिन्दी और चर्खा-कताई सिखाने के लिए बापू जी ने उसे दिल्ली देवदास गांधी के साथ भेजा था, मगर वहीं पर टायफाइड हुआ और उसकी मृत्यु हो गयी। इस घटना से बापू जी को बेहद दुःख हुआ। हरिलाल काका भी कहीं से अपने बीमार पुत्र के

पास पहुंच गये, मगर उनकी उदारता थी कि उन्होंने कभी अपने छोटे भाई देवदास को रसिक के बारे में उलाहना तक नहीं दिया ।

हरिलाल भाई के दूसरे लड़के कांति अब परिवार के सबसे बड़े हैं। उन्होंने डॉक्टरी पास की और बम्बई में जन-सेवा की दृष्टि से ही प्रैक्टिस की। आज भी वह लोक-सेवा ट्रस्ट चलाते हैं और पुणे के पास क्षयरोगियों के लिए उन्होंने ग्रामीण अस्पताल की स्थापना की है। वह वर्तमान काल के सारे कष्टों को सहते-झेलते निष्ठापूर्वक ग्रामीण क्षेत्र में अस्पताल चलाने का भगीरथ कार्य कर रहे हैं। उनकी शादी केरल की वीणावादिनी महिला सरस्वती से हुई है। उनके दो लड़के हैं– शांति और प्रदीप। शांति डॉक्टर है और उसकी पत्नी अमरीकन है। वे दोनों अपनी बच्चियों के साथ अमरीका में रहती हैं। प्रदीप इंश्योरेंस का काम करते हैं। एक महाराष्ट्रीयन लड़की के साथ उनका विवाह निश्चित हुआ है ।

बापू जी के अन्य तीनों बेटों के नाम थे मणिलाल, रामदास और देवदास। उन तीनों का जन्म अफ्रिका में ही हुआ था। इन तीन बेटों को अपने पिता का सान्निध्य ज्यादा मिला। ये तीनों पिता और बड़े भाई हरिलाल काका के मार्गदर्शन में पहले टालस्टाय फार्म और बाद में फोनिक्स आश्रम में बड़े हुए। जब इन लोगों का जन्म हुआ तब बापू जी अफ्रिका के सफल बैरिस्टर माने जाने लगे थे और सुनते हैं 1896 -98 के काल में उनकी 5000 पौंड माहवार आमदनी थी। रस्किन का 'अंटू दि लास्ट' पढ़कर बापू जी का समस्त जीवन-दर्शन ही बदल गया। एक बार नया मार्ग देखने पर बापू अमल में देर नहीं करते थे। उन्होंने शहर से दूर जमीन खरीदी और वहीं पर रूस के सुप्रसिद्ध लेखक नेता टालस्टाय के नाम पर एक संस्थान बनाया, जहां आश्रम-जीवन और सहजीवन के प्रथम प्रयोग किये गये। बापू जी और उनके साथियों ने हाथ से ही जंगल साफ किया और हाथ से ही झोंपड़ियां बनायीं। बापू जी अपने परिवार और दो-चार मित्रों के साथ वहां रहने गये। प्रारंभ के वे दिन कष्ट के थे। यह कठोर जीवन, नये खेती करने और बाल-बच्चों के साथ स्वावलंबन का प्रथम प्रयोग था। आसपास जंगल होने के कारण वहां अकसर ही विकराल सांप निकला करते थे, मगर आदि सभ्यता के पथ-प्रदर्शक की तरह बापू जी और उनके साथियों ने भी कठिनाइयों का सामना किया

और उस स्थान का विकास किया। यहीं पर मणिलाल, रामदास, देवदास बड़े हुए। मणिलाल कुछ बड़े थे। रामदास, देवदास छोटे। बापू जी नहीं चाहते थे कि उनके बच्चे विदेशी संस्कारवाले अंग्रेजी स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करें। इसलिए व्यस्त कार्यक्रम के बीच वह स्वयं ही लड़कों को पढ़ाते थे। आश्रम में प्रायः गुरुकुल के वातावरण का प्राधान्य था और शिक्षा का मुख्य माध्यम था, 'इंडियन ओपीनियन' साप्ताहिक में प्रैक्टिकल ट्रेनिंग और आश्रम-जीवन। यहीं उन लोगों ने शिक्षा के मूल संस्कार प्राप्त किये और विशषतः साक्षात् जीवन-दर्शन और सत्याग्रह की मीमांसा को समझा और अपनाया। मेरे पिता जी कहते थे कि वे लोग डटकर खाते और उतना ही खेत में काम करते। सारा आश्रम ही साप्ताहिक की प्रेस में काम करता, मगर मणिलाल, रामदास और देवदास सतत वहीं रहते थे। बापू जी का अनुशासन काफी कड़ा था, मगर प्रेम भी उतना ही था, इसलिए लड़के प्रगति करते रहे। साथ में चरित्र का विकास हुआ। तीनों लड़के अच्छी अंग्रेजी बोलते थे।

बोलचाल व उठने-बैठने में गहरी संस्कारिता का आभास मिलता। अफ्रिका के सत्याग्रह में मणिलाल भी अपने पिता के साथ जेल गये थे। रामदास यद्यपि नाबालिग ही थे तो भी वे शरीर से भरपूर स्वस्थ दीखते थे। वह भी दो बार तीन-तीन महीनों के लिए अफ्रिकी जेल में रहे। देवदास काफी छोटे थे, इसलिए उनके सत्याग्रह में जाने का सवाल ही न था। सुनते हैं कि आश्रम-जीवन के कड़े नियम पालते हुए भी इन तीनों भाइयों को क्रिकेट से विशेष लगाव था और अच्छी क्रिकेट खेली जाती थी। 1915 में बापू जी सपरिवार और आश्रम के अन्य लोगों के साथ भारत लौट आये। जब तक वह कहीं स्थिर नहीं हुए तब तक लगभग छः महीनें के लिए दोनों छोटे बेटों को उन्होंने गुरुदेव टैगोर के शंतिनिकेतन में रखा। बाद में तीन-चार महीने बनारस में एनी बेसेंट की संस्था में भी ये दोनों किशोर रहे। इस प्रकार यद्यपि इन तीनों लड़कों का काई व्यवस्थित शिक्षण नहीं हुआ तो भी पर्याप्त ज्ञान और जीवन-पाथेय मिला, जिससे तीनों ने अपने महान पिता की ख्याति पर कभी दाग नहीं लगने दिया; बल्कि अपने स्थान पर रहकर निःस्वार्थ भाव से देश की सेवा की। मणिलाल गांधी अफ्रिका में ही रहे और अंत तक वहीं पर रंगभेद की

नीति का विरोध करते हुए अनेक बार जेल गये। वह वहां की जनता और भारतीय लोगों के अधिकारों के लिए अकेले जूझते रहे और निहत्थे ही प्रतिकार के लिए डटे रहे। अब तो वहां का संग्राम काफी तेजी पकड़ चुका है। मगर 1940-55 तक मणिलाल भाई वहां की वर्णभेद की नीति का जगह-जगह विरोध करते हुए सत्याग्रह करते रहे और बार-बार जेल जाते रहे। अनेक कष्टों और पैसों की सख्त कमी के बीच उन्होंने अपने जीवनकाल में 'इंडियन ओपीनियन' को कभी खत्म नहीं होने दिया और हर शुक्रवार को नियमित रूप से यह साप्ताहिक अंग्रेजी व गुजराती में निकलता रहा और वहां की भारतीय और अफ्रिकी जनता के लिए सत्याग्रह का एक प्रतीक बना रहा।

जब कभी मणिलाल भाई आते तो वह अपने मां-बाप के साथ सेवाग्राम आश्रम में रहते और दोनों की व्यक्तिगत सेवा करते। मणिलाल जी की शादी मश्रुवाला परिवार की कन्या सुशीला से हुई थी। उनके दो लड़कियां और एक लड़का है। दोनों लड़कियां सीता और इला अफ्रिका में ही सपरिवार रहती हैं और अपनी क्षमता के अनुसार वहां के आंदोलन में हाथ बंटाती हैं। आज भी फोनिक्स आश्रम है और वहां अफ्रिकियों के लिए स्कूल चलता है। अब एक डिस्पेंसरी है, जिससे आसपास के समाज को बड़ा सहारा है। मणिलाल जी के एकमात्र पुत्र अरुण गांधी ने महाराष्ट्रीय कन्या से विवाह किया है और उनका एक लड़का तुषार और लड़की अर्चना है। अरुण गांधी बंबई में रहकर 'टाइम्स ऑफ इंडिया' में काम करते हैं।

तीसरे लड़के रामदास बड़े सज्जन और शान्त थे। उनकी नखशिख सुन्दर थी। वह हृदय से अपने पिता के भक्त थे और उन्होंने गांधी-तत्व को आत्मसात् कर जीवन में व्याप्त किया था। शांतिनिकेतन के बाद वह पुनः अफ्रिका गये और वहीं कुछ काम कर रहने का इरादा किया। फिर 1918 में वह भारत वापस आये और पिता की इच्छा के अनुकूल उन्होंने तन-मन से अपने-आपको स्वतंत्रता-संग्राम में लगा दिया और विदेशी सरकार के विरोध में जेल जाते रहे। बारडोली-सत्याग्रह आश्रम के वह व्यवस्थापक थे और बारडोली-सत्याग्रह और डांडी के नमक-सत्याग्रह के स्वयं-सैनिकों के दस्ते के वह नेता थे। उनका इतना कोमल दिल था

कि वह किसी के भी कष्ट को देख नहीं पाते थे और आगे होकर कष्ट-निवारण करने का प्रयत्न करते थे। स्वभाव से वह सरल, सादे और तपस्वी थे। उनकी शादी बापू जी के एक डॉक्टर मित्र की कन्या निर्मला से हुई थी। उनकी संतति में दो पुत्रियां और एक पुत्र हैं। लड़कियां दोनों ही समाज-कार्य में रत हैं। सुमित्रा का विवाह महाराष्ट्रीय परिवार में हुआ है। उसके पति गजानन कुलकर्णी अहमदाबाद में इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेंट में पढ़ाते हैं और वे लोग वहीं रहते हैं। उनके भी दो जुड़वां लड़के राम और कृष्ण हैं और लड़की सोनाली है। कनू उनका एकमात्र पुत्र है। वह एटॉमिक साइंटिस्ट हैं और बोस्टन संयुक्त राष्ट्र अमरीका में अपनी पत्नी के साथ रहते हैं।

विदेश मंत्री यशवंतराव चव्हाण कहते हैं कि रामदास यद्यपि उनके नेता थे, तो भी इतने निरभिमानी और कर्तव्यनिष्ठ थे कि जेल में उन्हें 'ए' क्लास मिलने पर भी अपने साथियों का साथ देने के लिए उन्होंने स्वेच्छा से 'सी' क्लास स्वीकार की थी।

छोटी उषा की शादी हरीश गोकाणी के साथ बम्बई में हुई है। वे सिंथेटिक यार्न आदि का लघु उद्योग चलाते हैं। उषा स्वयं समाज-सेवारत रहती हैं और अंधजन और चाइल्ड वेलफेयर का काम बड़ी लगन से क़रती हैं। उनके दो लड़के हैं। आनंद डॉक्टरी में पढ़ता है, छोटा संजय वाणिज्य कर रहा है। रामदास जी गांधी-पुत्रों में सबसे लम्बी अवधि तक जीवित रहे और 1969 में गांधी शताब्दी वर्ष में उन्होंने देह-त्याग किया। उनकी मृत्यु के समय यही लगा कि बापू जी ने अपने अंतिम पुत्र को शताब्दी के अवसर पर अपने पास बुला लिया। उनकी पत्नी निर्मला गांधी स्वयं प्रखर गांधीवादी हैं और सेवाग्राम आश्रम में रहती हैं। वहीं पर वह अनेकविध जल-कल्याण के कार्य में व्यस्त हैं।

बापू जी के सबसे छोटे लड़के देवदास गांधी थे। वह बाल्यकाल से ही विलक्षण बुद्धि के, बड़े आकर्षक व्यक्ति थे। उन्होंने फोनिक्स आश्रम में पत्रकारिता की दीक्षा ली, जो आजीवन निभायी। छोटे होने के कारण उनको लंबे अरसे तक भारत में मां-बाप के साथ रहने का मौका मिला। उन्होंने दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार का काम किया और राष्ट्रभाषा प्रचार के वह आद्य नेताओं में गिने जाते हैं।

भारत में चलने वाले सभी आंदोलनों में उन्होंने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया और जेल गये। उनकी शादी राजगोपालाचारी की कनिष्ठ कन्या लक्ष्मी से हुई। उसके बाद से उन्होंने दिल्ली के 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में काम संभाला और उसे विकसित कर देश के अग्रगण्य, अखबारों में से एक बनाया। उन्होंने पी० टी० आई० की स्थापना की। 'दैनिक हिन्दुस्तान' और 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' की स्थापना की। वह एक कुशल पत्रकार थे और भारतीय पत्रकारिता का आरम्भ का इतिहास देवदास जी के योगदान और कर्तव्य-निष्ठा की कहानी है।

उनके तीन पुत्र और एक पुत्री है। पुत्री तारा ने बंगाली सज्जन भट्टाचार्य जी से विवाह किया है। वे लोग इटली में पी० ए० ओ० में काम करते हैं। उनका एक पुत्र है, एक पुत्री। देवदास जी के ज्येष्ठ पुत्र राजमोहन गांधी पिता के ही समान पत्रकार हैं। 'हिम्मत' नामक साप्ताहिक चलाते हैं। उनकी शादी सिंधी लड़की से हुई है। दूसरे पुत्र डॉ० रामचन्द्र गांधी और उनकी पंजाबी पत्नी इन्दु दोनों दिल्ली यूनिवर्सिटी में फिलॉसफी पढ़ाते हैं। रामचन्द्र गांधी फिलॉसफी के गहन विद्वान् हैं। देवदास जी के सबसे छोटे पुत्र गोपालकृष्ण गांधी ने आई. ए. एस. किया है। तमिलनाडु सरकार के अन्तर्गत काम करते हैं। उन्होंने तमिल कन्या से विवाह किया है। उनकी एक नन्ही बच्ची है। देवदास जी का देहांत काफी कम उम्र में हुआ, मगर इस सीमित काल में उन्होंने अपनी पत्रकारिता और सामाजिक कार्यदक्षता से ख्याति कमायी। देवदास जी की पत्नी लक्ष्मी गांधी मद्रास में अपने पुत्र के साथ रहती हैं। उन्होंने अपने पिता राजा जी की तमिल पुस्तकों का हिंदी अनुवाद किया। उनमें सर्वोत्तम कृति 'दशरथनन्दन श्रीराम' है, जो बड़ी ही सुन्दर और मनोरम शैली में लिखी गयी है।

इस प्रकार गांधी जी के चारों बेटे अब नहीं रहे। इन पुत्रों में अपने महान् पिता के संस्कार थे और उनके जीवन का एक निःशब्द आदर्श था कि बापू जी के नाम को कहीं से भी आंच न आये। यह परंपरा पुत्रों ने ही नहीं निभायी, उनके पौत्र भी पाल रहे हैं। 14 पौत्र-पौत्रियों में से 12 जीवित हैं। वे अलग-अलग अपना काम करते हैं, मगर जहां रहते हैं वहां उनके स्वभाव की सद्भावना व्याप्त है। गांधी जी की तीन

पुत्र-वधुएँ अब भी अपने तरीके से अपने ससुर की ऊंची परम्परा का जीवन व्यतीत करती हैं और कुछ-न-कुछ देश-सेवा का काम करती हैं। तीनों ही अलग-अलग प्रकृति की, मगर श्रेष्ठ जीवन-प्रणालियों की प्रतीक हैं।

शायद प्रतिभा के सामाजिक मानदंड पर गांधी पौत्र-पौत्रियों ने कोई वैशिष्ट्य सिद्ध न किया हो, मगर उन्होंने अपने पितामह की आभा पर कहीं भी मलिनता नहीं आने दी। आजकल की अवसरवादिता और अपने परिवार को आगे बढ़ाने की वृत्ति के विपरीत गांधी जी के बच्चों ने अपने व्यक्तित्व को जान-बूझकर सामाजिक प्रचार से दूर रखा है।''

अब जाकर मेरी बात पूरी हो रही है। गांधी-परिवार की सबसे अनुभवी और बड़ी सदस्या सुमित्रा कुलकर्णी जी की मां श्रीमती निर्मला गांधी, जिनकी आयु 88 वर्षों की है, आज भी बापू की सेवाग्राम कुटिया में रह रही हैं। भाई राजमोहन गांधी जी एक प्रखर तथा तेजस्वी विचारक तो हैं ही, कुछ दिनों तक संसद में रहकर उन्होंने अपनी पहचान बनाई। मैं अपने को इस रूप में सौभाग्यशाली मानता हूं कि गांधी-परिवार के अनेक सदस्यों के करीब रहा तथा उनका स्नेह भी मुझे मिला। खासकर श्रीमती सुमित्रा कुलकर्णी जी के प्रति मेरी श्रद्धा केवल भाई-बहन की ही नहीं, मातृवत् है।

गांधी जी का परिवार पूरा देश है, इसमें दो राय नहीं, लेकिन वंशावली के अनुसार भी गांधी-परिवार के लोग जहां कहीं भी हैं, पूरे देश के हैं।

प्रायश्चित का एक दिन

आज का दिन यानी हर वर्ष की 30 जनवरी मेरे लिए प्रायश्चित का दिन होता है। उसी दिन से जिस दिन महात्मा गांधी को गोली लगी थी, उनकी हत्या कर दी गई थी तथा विश्व को यही लगा था कि मानवता का खून हो गया। गांधी भी ईसा और सुकरात के समान एक ऐसे शहीद मान लिये गए थे, जिनके खून के धब्बे इतिहास के माथे पर कलंक के समान टंगे रहेंगे।

बाद के दिनों में इन्दिरा जी के साथ भी वही हुआ।

मैंने अपनी अबोध अवस्था, यानी कि ग्यारह-बारह साल की आयु में ही, 1948 में, यह निश्चय कर लिया था कि हर तीस जनवरी मेरे लिए प्रायश्चित का दिन होगा, जिस दिन मैं खाना नहीं खाऊंगा, किसी तरह का गलत काम नहीं करूंगा और दिनभर गांधी के साए में बिताऊंगा। गांधी जी के साए का अर्थ है कि उनके विचारों को जीवन-पाथेय मानकर वैसे ही आचरण की संकल्पना।

तब से आज कई साल बीतने को आ रहे हैं और मैं हर साल प्रायश्चित करता हूं, मानवता की उस हत्या का, जिसने गांधी जी को हमसे बर्बर तरीके से छीन लिया था।

अच्छी तरह मुझे याद है कि गांव में जब मैं खेल-कूद में मस्त था कि उसी समय किसी ने यह सूचना दी थी कि गांधी जी को गोली मार दी गई। कह नहीं सकता कि मेरे साथ के अन्य लड़कों के साथ उस दिन क्या हुआ था, लेकिन मैं निस्तब्ध हो गया था, संज्ञा-शून्य। और घर से औरंगाबाद, जिसकी दूरी लगभग बारह-तेरह किलोमीटर है, उसके लिए सबेरा होते ही प्रस्थान कर गया था। देहात में कुछ पता नहीं चला तो सोचा कि शहर में जाकर देखें क्या हुआ।

औरंगाबाद की सड़क पर, कच्ची राह से मैं हारे-थके-पस्त की तरह

गुमसुम बढ़ा जा रहा था। किसी से बातचीत नहीं। कहीं रुकना-बैठना नहीं। किसी से कुछ भी कहना-सुनना नहीं। और पहुंच गया था औरंगाबाद, जहां चारों ओर खामोशी थी, शान्ति थी, सारी दुकानें बन्द थीं और ऐसा लगता था मानो किसी ने मानवता का गला घोंट दिया हो।

मुझे यह देखकर संतोष हुआ था कि गांधी जी नहीं रहे तो इस शोक को हर किसी को मानना चाहिए और सही रूप में जहां कहीं भी गया या नजर पड़ी, हर व्यक्ति शोकाकुल नजर आया।

सच कहूं तो गांधी उस दिन से ही मेरे अन्दर कहीं बैठ गए। मैंने अनायास ही मान लिया कि गांधी इस देश के संदर्भ हैं, जिनकी व्याख्या करना मेरे-जैसे लोगों का काम है और बाद के दिनों में भी मैंने वैचारिक रूप से जो भी ग्रहण किया, आज तक गांधी जी ही मेरे जीवन पर छाए हुए हैं। उस समय सोचने-समझने की शक्ति कम थी, आज विचार कर सकता हूं, तर्क कर सकता हूं और इस रूप में मुझे ऐसा लगता है कि गांधीवाद ही इस धरती के लिए वह मुफीद दवा है, जिसका सेवन करने से भारतीय जड़ता समाप्त हो सकती है।

गांधीवाद को मैंने कभी दर्शन नहीं माना, इसलिए कि वह कोरे उपदेश की तरह हमारे सामने नहीं आया। गांधीवाद कर्म के रूप में ही प्रस्फुटित हुआ। उसका कोई भी पक्ष सैद्धान्तक नहीं है, जो भी है वह व्यावहारिक। दक्षिण अफ्रिका से लेकर भारत में आने तक और मृत्यु-पर्यन्त तक गांधी प्रयोग करते रहे, सत्य का प्रयोग और वह प्रयोग सिद्धान्त न होकर व्यवहार था। गांधीवाद की जड़ ही व्यावहारिकता मानी गई।

गांधी जी ने जब अपने वस्त्रों को तिलांजलि देकर एक छोटी लंगोटी धारण की, तब उनके आश्रमवासियों में से अनेक ने तथा गांधी जी के कई अनुयायियों ने भी वही किया, लेकिन गांधी जी ने सबों को ऐसा करने से मना किया। इस संदर्भ में सबसे मनोरंजक बात यह आयी कि जयप्रकाश जी जब गांधी जी के आश्रम में रहने आए, तो उन्होंने भी गांधी जी के समान ही वस्त्र ग्रहण किया—छोटी-सी लुंगीनुमा धोती और उत्तरीय। इस वेश में जब जे० पी० गांधी जी के सामने गये तो बापू ने पूछा—"जयप्रकाश, यह क्या ?"

जयप्रकाश जी ने विनीत स्वर में कहा कि बापू, आपने जब कपड़ा छोड़

दिया, तब हम लोगों का आदर्श भी यही हो गया। इस पर गांधी जी ने कहा–"जयप्रकाश, मैंने क्यों कपड़ा छोड़ा, कुरते-धोती को तिलांजलि दी, यह तो तुमने नहीं पूछा। मैं जब किसी ऐसे व्यक्ति को देखता था जिसके तन पर पूरा वस्त्र न हो तो उसके फटे-चिथड़े को देखकर मेरे अन्दर एक दाह उठती थी और लगता था कि मेरे कपड़ों में आग लग जाएगी और वह जलकर भस्म हो जाएगा। यदि तुम में भी वही भाव जागृत होता है, तो तुम भी जरूर कपड़ों को तिलांजलि दे दो।"

जे० पी० ने इस पर बापू के पांव पकड़ लिये– "नहीं बापू, मुझमें वह नहीं होता है।"

इसीलिए मैंने कहा कि गांधीवाद सिद्धान्त नहीं होकर व्यवहार हो गया।

किसी वाद के रूप में गांधीवाद आया भी नहीं। हालांकि सादगी, छुआछूत, स्त्री-शिक्षा, आश्रम-नियम, अपरिग्रह, अहिंसा, सत्य, प्रार्थना, हिन्दी-भाषा, खादी, निर्भयता, प्राकृतिक चिकित्सा आदि अनेक ऐसे प्रयोगों को गांधी जी ने अपने जीवन में उतारा और लक्ष्य स्थिर किया कि बाद के दिनों में गांधीवाद के रूप में उनकी प्रतिष्ठा हो गई। लेकिन समाजवाद, साम्यवाद, पूंजीवाद आदि के समान किसी वाद का रूप हम आज भी गांधीवाद को नहीं दे सकते। हां, इसमें एक चिन्तन की बात यह जरूर है कि इस देश की मिट्टी से सनकर और हवा-पानी की ऊर्जा लेकर यही एक व्यावहारिक सिद्धान्त हमारे सामने है, अन्यथा अन्य सभी सिद्धान्त विदेशी फूलों के समान निर्गंध हमारी बगिया में फूल-फल रहे हैं।

गांधी-जीवन के एक-एक सोपान को हम देखें, तो पायेंगे कि कहीं भी उनमें उछाल नहीं है, समतल भावधारा है और ऐसी पकड़ और समझ, जिसे भारतवासी समझ सकते हैं तथा ग्रहण कर सकते हैं। आचार-व्यवहार की मिट्टी पर गांधीवाद का पौधा बड़ा हुआ और आज भी इसे कोई उखाड़ नहीं पा रहा है।

आज सरकार व्यक्ति और समाज के लिए न होकर इस बात के लिए सचेष्ट रहती है कि व्यक्ति और समाज ही सरकार के लिए हैं। गांधीवादी चिन्तन में ठीक यह उलटा है। वहां समाज और व्यक्ति की शिराएं सरकार से ऊपर हैं।

आज सही मानो में गांधीवादी चिन्तन की रस्साकसी उन्हीं तत्त्वों से

है, जो अपने को गांधी के अनुयायी मानते हैं। उनके लिए गांधी का नाम लेना अनिवार्य भी है और न लेना एक आवश्यकता। गांधी का नाम लिया तो जनता उस आचरण को ढूंढ़ने लगेगी और न लिया तो जनता कहेगी कि ये गांधी को भूल गए। फिर गांधी रह कहां गए ? केवल लिबास में, चित्र में या उससे भी परे।

जो हो, इस लेख में मैं न तो दर्शन लाना चाहता हूं और न ही राजनीति। सीधा-सच्चा मेरा प्रयास यह था कि बताऊं कि मेरे जीवन पर गांधी जी का ही प्रभाव है और इस मिट्टी के लिए गांधी के सिवा कोई दूसरी दवा नहीं है। इसके साथ ही यह मान्यता रख रहा था कि वर्ष में एक दिन प्रायश्चित का भी तो हो। और उसके लिए 30 जनवरी से बढ़कर और कौन दिन हो सकता है, जिस दिन को लक्षित करते हुए न जाने कितनी बातें कही गईं और कविताएं रची गईं, लेकिन सुप्रसिद्ध गांधीवादी कवि-विचारक मैथिलीशरण गुप्त जी ने केवल दो पंक्तियां कही थीं–

'हाय राम ! कैसे हम झेलें, अपनी लज्जा, उसका शोक !
गया हमारे ही हाथों से, अपना राष्ट्रपिता परलोक !!'

हम सब अपराधी हैं गांधी की मौत के और उससे भी बढ़कर हम अपराधी हैं उस महान् युगपुरुष के बताए रास्ते को भूल जाने के। इसीलिए साल में कम से कम एक दिन प्रायश्चित जरूरी है, जिससे हम अपनी ही आत्मा से शान्त-चित्त यह पूछ सकें कि इतिहास बड़ा होता है या व्यक्ति ?

मैंने एक बार अपनी डायरी में कहीं लिखा था– हर 30 जनवरी को प्रायश्चितस्वरूप मैं उपवास करता हूं। लेकिन यह भी सोचा है कि माओत्से तुंग, लोकनायक जयप्रकाश, इन्दिरा गांधी और लता मंगेशकर जिस दिन नहीं रहेंगे, उस दिन भी नहीं खाऊंगा।

एक-एक कर तीनों उठ गए और मैंने पालन किया और अब बच रहीं मात्र लता जी, जिनके लिए मेरे मन में सच में श्रद्धा है, लेकिन उन सारे उपवासों में मात्र एक दिन का दर्द छिपा है और 30 जनवरी के उपवास में इतिहास का दर्द मेरे लिए 'प्रायश्चित-दिवस' हो गया है।

राष्ट्रीयता और राष्ट्रभाषा

गांधी जी ने जब हिन्दी की बात उठाई थी तो निश्चय ही उनके मन में राष्ट्रीय एकता के साथ-साथ हिन्दी के द्वारा ही राष्ट्रीयता का संदर्भ भी सामने रहा होगा, तभी उन्होंने यह कहा था–

'हिन्दी-भाषी लोगों को दक्षिण की भाषा सीखने की जितनी जरूरत है, उसकी अपेक्षा दक्षिणवालों को हिन्दी सीखने की आवश्यकता अवश्य ही अधिक है। सारे हिन्दुस्तान में हिन्दी बोलने और समझने वालों की संख्या दक्षिण की भाषाएं बोलने वालों से दुगुनी है। प्रान्तीय भाषा या भाषाओं के बदले में नहीं, बल्कि उनके अलावा एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त का संबंध जोड़ने के लिए एक सर्वमान्य भाषा की आवश्यकता है। ऐसी भाषा तो एकमात्र हिन्दी या हिन्दुस्तानी ही हो सकती है।'

गांधी जी का यह सहज विश्वास उनके इन शब्दों में झांकता है कि 'युवक और युवतियां अंग्रेजी और दुनिया की दूसरी भाषाएं खूब पढ़ें और जरूर पढ़ें। लेकिन उनसे मैं आशा करूंगा कि वे अपने ज्ञान का प्रसाद भारत को और सारे संसार को उसी तरह प्रदान करेंगे, जैसे बोस, राय और स्वयं कवि रवीन्द्रनाथ ने प्रदान किया है। मगर मैं हरगिज यह नहीं चाहूंगा कि कोई भी हिन्दुस्तानी अपनी मातृभाषा को भूल जाए या उसकी उपेक्षा करे या उसे देखकर शरमाए अथवा यह महसूस करे कि अपनी मातृभाषा के जरिए वह ऊंचा चिंतन नहीं कर सकता है।'

अमूमन वे तीखे शब्दों का प्रयोग नहीं करते थे लेकिन अंग्रेजी शिक्षा की बात उठते ही उन्होंने कहा था कि 'मेरा यह सुचिन्तित मत है कि जिस रूप में अंग्रेजी की शिक्षा यहां दी गई है, उससे अंग्रेजी पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानी कमजोर हो गए हैं। इस पद्धति ने भारतीय छात्रों की स्नायविक ऊर्जा पर भयानक दबाव डाला है तथा हम सबको नक्काल बना दिया है। कोई भी

जाति नक्कालों की कौम पैदा करके बड़ी नहीं हो सकती ।'

गांधी जी के उद्धरणों के साथ हिन्दी की बात मैंने इसलिए शुरू की है, जिससे आज भी अंग्रेजी के व्यामोह में फंसे लोगों का मोहभंग हो और वे राष्ट्रपिता की अनुभूति को सच्चाई के साथ स्वीकारें कि 'अगर स्वराज्य अंग्रेजी बोलने वाले भारतीयों को और उन्हीं के लिए होने वाला हो, तो निस्संदेह अंग्रेजी ही राष्ट्रभाषा होगी । लेकिन अगर स्वराज्य करोड़ों भूखों मरने वालों, निरक्षरों, निरक्षर बहनों और दलितों व अन्त्यजों का हो और इन सबके लिए होने वाला हो, तो हिन्दी ही एकमात्र राष्ट्रभाषा हो सकती है ।'

गांधी जी की प्रेरणा से ही कांग्रेस ने अपने 36वें अधिवेशन में यह पारित किया था कि स्वतंत्र भारत की राजभाषा हिन्दी होगी । संविधान की धारा 343 के अनुसार इसे राजभाषा का दर्जा 1950 में ही दिया गया, लेकिन उसी समय यह बात भी कही गई कि अगले पन्द्रह वर्षों तक राजकाज में अंग्रेजी से भी मदद ली जाएगी । 1963 में जो राजभाषा अधिनियम संसद ने पारित किया उसमें यह जोड़ दिया गया कि जब तक भारत गणतंत्र के सभी प्रांत स्वेच्छा से हिन्दी को राष्ट्रभाषा मान नहीं लेते, अंग्रेजी उसके साथ-साथ राजकाज की भाषा बनी रहेगी ।

मेरी समझ में 1963 का अधिनियम और 1967 का संशोधन हिन्दी की राह में सबसे बड़ी रुकावट बना, उसने गांधी के सपने को भी चूर-चूर कर दिया—'अंग्रेजी आज इसलिए पढ़ी जा रही है कि उसका व्यावसायिक एवं तथाकथित राजनैतिक महत्त्व है । हमारे बच्चे अंग्रेजी यह सोचकर पढ़ते हैं कि अंग्रेजी पढ़े बिना उन्हें नौकरियां नहीं मिलेंगी । लड़कियों को अंग्रेजी इसलिए पढ़ाई जाती है कि इससे उनकी शादी में सहूलियत होगी । मैं ऐसी कितनी ही औरतों के बारे में जानता हूं जो अंग्रेजी फकत इसलिए सीखना चाहती थीं कि अंग्रेजों के साथ वे अंग्रेजी में बातचीत कर सकें । मैं कितने ही ऐसे पतियों को जानता हूं, जिन्हें इस बात का मलाल है कि उनकी बीवियां उनके साथ और उनके दोस्तों के साथ अंग्रेजी में बात नहीं कर सकतीं । मुझे ऐसे परिवारों की जानकारी है, जहां अंग्रेजी मातृभाषा बनाई जा रही है ।.... ये सारी बातें मेरी नजर में गुलामी और घोर पतन के चिह्न हैं । मैं इस बात को बर्दाश्त नहीं कर सकता कि देशी भाषाएं इस तरह कुचल दी जाएं, भूखों मार डाली जाएं ।'

सच कह जाए तो 1947 की 15 अगस्त को जिस दिन हम गुलामी से मुक्त हुए थे और हमारा राष्ट्रीय तिरंगा फहरा रहा था, उसी दिन टर्की के समान घोषणा हो जाती कि कल से विदेशी भाषा सदा के लिए विदा हो जाएगी, तो गांधी जी का सपना पूरा हो जाता। टर्की को जब आजादी मिली तो वहां के राष्ट्रपति मुस्तफा कमाल पाशा ने अपने सभी बड़े अधिकारियों को बुलाया और उनसे पूछा कि विदेशी भाषा के बदले अपने देश की भाषा में सारा राजकाज चलाने में हमें कितना समय लगेगा। अधिकांश अधिकारियों ने कहा— कम से कम तीन साल।

मुस्तफा कमाल पाशा ने अपनी सफेद दाढ़ी पर हाथ फेरा और कहा— परसों से हमारे यहां एक भी काम विदेशी भाषा में न होगा। कान खोलकर सुन लीजिए, परसों बारह बजे दिन से मानकर चलें कि तीन साल की अवधि पूरी हो गई।

और टर्की में तीसरे दिन से विदेशी भाषा सदा के लिए विदा हो गई, वहां की अपनी भाषा ने उसका स्थान ले लिया, तब यह मान लिया गया कि अब मुकम्मल अजादी आ गई, हम विदेशी चंगुल से सर्वथा मुक्त हो गए।

राष्ट्रपिता ने भी भारत में यही चाहा था— 'अगर मेरे हाथ में तानाशाही सत्ता हो, तो मैं आज से ही विदेशी माध्यम के जरिए अपने लड़कों और लड़कियों की शिक्षा बंद कर दूं और सारे शिक्षकों और प्रोफेसरों से यह माध्यम तुरन्त बदलवा दूं या उन्हें बरखास्त करा दूं। मैं पाठ्य-पुस्तकों की तैयारी का इन्तजार नहीं करूंगा। वे तो माध्यम के परिवर्तन के पीछे-पीछे चली आएंगी।'

उस समय हमारे समाज में तथा सरकार में अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों का बोलबाला था। जवाहरलाल जी गांधी जी के सबसे बड़े अनुयायी होते हुए भी अंग्रेजी चाकचिक्य से मुक्त न थे। गांधी जी की निरीहिता और उनकी मनस्विता उनके शासकीय अनुयायियों के पल्ले नहीं पड़ी, अन्यथा गांधी जी का एक ही वाक्य सरकार के लिए पर्याप्त होना चाहिए था जो उन्होंने 1947 की 15 अगस्त को कहा था। गांधी जी बंगाल के दंगाग्रस्त क्षेत्रों का दौरा कर रहे थे। वहां बी० बी० सी० का प्रतिनिधि पहुंचा और उसने आज के दिन गांधी का दुनिया को क्या संदेश है, जानना चाहा। इस पर गांधी जी ने तपाक के साथ एक ही वाक्य कहा, 'दुनिया से कह दो कि गांधी अंग्रेजी भूल गया।'

हर तरह से गांधी जी चाहते थे कि हिन्दी को राष्ट्र की मुख्य धारा के साथ जोड़ें या फिर हिन्दी के सहारे लोग राष्ट्र की मुख्य धारा में शामिल हों। उन्होंने एक बार कहा था —'मुझे पक्का विश्वास है कि किसी दिन हमारे द्रविड़ भाई-बहन गंभीर भाव से हिन्दी का अध्ययन करने लगेंगे। आज अंग्रेजी भाषा पर अधिकार प्राप्त करने के लिए वे जितनी मेहनत करते हैं, उसका आठवां हिस्सा भी हिन्दी सीखने में करें तो बाकी हिन्दुस्तान, जो आज उनके लिए बंद किताब की तरह है, उससे वे परिचित होंगे और हमारे साथ उनका ऐसा तारतम्य स्थापित हो जाएगा, जैसा पहले कभी नहीं था।'

मैं रह-रहकर गांधी जी के राष्ट्रभाषा संबंधी विचारों को पढ़कर उद्वेलित हो उठता हूं। लगता है मानो जान-बूझकर हमने उस महामानव की बात न मानकर उन्हें प्रताड़ित किया। काश, हमने गांधी को समझा होता और उनकी बात मानी होती तो इस देश की राजनीतिक, आर्थिक और मानवीय क्षमता कुछ और ही होती। क्षेत्रीयता का काला जहर हमें ग्रसित नहीं करता और न ही धर्म और जाति का कीड़ा हमें इस प्रकार उदरस्थ कर पाता।

राजभाषा के अनेक कार्यों के सिलसिले में मुझे देश के एक कोने से दूसरे कोने में भटकना पड़ता है तथा अनेक लोगों से मिलने का सुअवसर मिलता रहता है। रह-रहकर मुझे इस बात से खुशी होती है कि हिन्दी के प्रति चाहे कितने भी कुचक्र क्यों न चल रहे हों, उसकी गाड़ी धीमी ही सही, आगे बढ़ती रही है। राष्ट्र एकता की सशक्त कड़ी के रूप में भाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हिन्दी राष्ट्र की संवाहिका और संचेतना है। गांधी की पवित्र धारा के समान, जिसमें न जाने कितने गंदे नाले आकर मिलते हैं, हिन्दी भी है, जिसकी अजस्र धारा राष्ट्र के भाल का तिलक है।

यहां इतना ही कहना समीचीन होगा कि देश की सामासिक चेतना का विकास हिन्दी द्वारा ही संभव है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने जब अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के मंच पर इसकी प्रतिष्ठा की तो उनका आशय राष्ट्र को एक सर्वमान्य भाषा के द्वारा आपस में जोड़ना ही था। एक समय तो ऐसा भी आया जब गांधी जी ने कांग्रेस के मंच से यह ऐलान कर दिया कि सभी राष्ट्रीय नेता हिन्दुस्तानी यानी हिन्दी में ही बोलें। इसे लेकर लोकमान्य तिलक जैसे नेताओं को भी परेशानी हुई, लेकिन दूसरी ओर दक्षिण के अनेक बड़े-छोटे नेताओं ने परिश्रम और अभ्यास करके हिन्दी में निपुणता प्राप्त की।

जब तक राष्ट्रपिता रहे और हिन्दी का दर्जा राष्ट्रभाषा का रहा, तब

तक कहीं कोई विवाद नहीं दिखाई दिया, लेकिन हिन्दी को जिस दिन से राजभाषा के रूप में स्वीकृत किया गया, उस दिन से इसका विरोध रचनात्मक से अधिक राजनीतिक रहा। कतिपय शासकीय भ्रम के कारण हिन्दी का विरोध संकुचित रूप से शुरू हुआ, इसके मार्ग में रोड़े अटकाए गए और संविधान की प्रतियां तक जलाई गईं, लेकिन जनभाषा के रूप में हिन्दी का प्रचार-प्रसार और विकास कहीं अवरुद्ध नहीं हुआ। केरल से लेकर कश्मीर तक और गुजरात से लेकर अरुणांचल तक हिन्दी संपर्क-सूत्र के रूप में बेहिचक स्वीकार्य है। महाकुंभ के अवसर पर प्रयाग में देश के हर कोने से एक करोड़ से भी अधिक लोगों का जुटान होता है। इसी भांति पुरी की रथ-यात्रा में लाखों नर-नारी देश के हर प्रांत से आकर भाग लेते हैं। वैष्णो देवी में प्रतिदिन 5 से 10 हजार दर्शनार्थी आकर मत्था टेकते हैं। रामेश्वर हो या बद्रीकाश्रम अथवा फिर गया हो या काशी—सभी जगहों में लाखों लोगों के जुटान में आपसी संपर्क की भाषा हिन्दी ही रहती है।

धर्म और राजनीति ये दोनों ऐसे केन्द्रबिन्दु हैं, जहां हर वर्ग और तबका जुटता है। इन दोनों का सहिष्णु और उदार होना आवश्यक है।

गांधी जी इन दोनों के बीच की कड़ी थे। उन्होंने एक ओर रामानंद, गुरु नानक, तुकाराम, नामदेव, तुलसी, कबीर जैसे संतों के मर्म को पहचाना था तो दूसरी ओर राजनीति की बागडोर भी उन्होंने संभाली थी, अतः वे इस बात को भली-भांति जानते थे कि राष्ट्र की चेतना क्या है और भाषा का राष्ट्रीय महत्त्व क्या है।

तभी उन्होंने अनेक अवसरों पर अपने भाव व्यक्त करते हुए चेतावनी के स्वर में कहा था—'वास्तव में ये अंग्रेजी में बोलने वाले नेता हैं जो आम जनता में हमारा काम जल्दी आगे बढ़ने नहीं देते। वे हिन्दी सीखने से इनकार करते हैं जबकि हिन्दी द्रविड़ प्रदेश में भी तीन महीने के अंदर सीखी जा सकती है, अगर सीखने वाले इसके लिए दो घंटे हर रोज दें।

'लाखों लोगों को अंग्रेजी का ज्ञान कराना, उन्हें गुलाम बनाना है। मैकाले ने भारत में जिस शिक्षा की नींव रखी, उसने हम सबको गुलाम बना दिया।'

आज राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीयता दोनों अधर में लटक रहे हैं, क्योंकि हमने गांधी की बात नहीं मानी। अब भी समय है, जब हम अपना मन बना लें कि गांधी को आगे रखकर हम इन समस्याओं से निबटेंगे। तभी संभव है कि हम सही रास्ता अपना सकें।

तीसरे दर्जे का यात्री गूंगा और लाचार होता है

"तीसरे दर्जे का यात्री गूंगा और लाचार होता है।" यह वाक्य गांधी जी का है। सभी इस बात को जानते हैं कि गांधी जी रेल के तीसरे दर्जे में सफर करते थे। हालांकि दक्षिण अफ्रिका में जब वे वकालत करने गए तो वहां उन्हें ट्रेन के प्रथम श्रेणी के डिब्बे से एक अंग्रेज ने बाहर ढकेल दिया—हिन्दुस्तानियों को रेल के प्रथम श्रेणी में टिकट लेकर भी चलने का हक नहीं है। 1893 में दक्षिण अफ्रिका के मेरीत्सबर्ग स्टेशन पर घटी इस घटना ने गांधी के जीवन की दिशा बदल दी, जिसने आगे चलकर सत्याग्रह का सूत्रपात किया तथा मानवता को अहिंसात्मक क्रांति का रास्ता दिखाया।

1915 में जब गांधी जी दक्षिण अफ्रिका से भारत लौटे तो अगले तीन वर्षों तक 1915-16 तथा 17 में वे अनवरत देश के एक हिस्से से दूसरे हिस्से में रेल के तीसरे क्लास में यात्री के रूप में सफर करते रहे। इसमें उन्हें असुविधा भले हो, लेकिन लज्जा कभी न आयी, क्योंकि उनका उद्‌देश्य यह था—"मेरे तीसरे दर्जे में यात्रा करने के अनेक कारणों में से एक कारण उस हालत की जानकारी प्राप्त करना था जिसमें इस दर्जे के यात्री यात्रा करते हैं और इसीलिए मैंने जहां तक हो सका है, उसका बहुत ही सूक्ष्मता से अवलोकन किया है।"

आज से 77 वर्षों पूर्व गांधी जी ने 25 दिसम्बर, 1917 को वाणिज्य और उद्योग सचिव को तीसरे दर्जे में सफर करने वाले यात्रियों की अवस्था तथा रेलवे की दुरवस्था के संबंध में एक पत्र लिखा था, जो उन्हीं दिनों इलाहाबाद के अंग्रेजी पत्र 'लीडर' में प्रकाशित हुआ था। यह पत्र इस अर्थ में दस्तावेज है कि इससे उस समय की रेलवे की क्या स्थिति थी, उस पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

आज इस पत्र का महत्त्व इसलिए भी बढ़ जाता है, क्योंकि प्रायः लोग भारतीय रेलों की आलोचना करते हुए इस बात को भूल जाते हैं कि आज़ादी के बाद भारतीय रेलों ने जो प्रगति की है, वह आसमान और जमीन का अंतर है। आज रेलों में तीसरा दर्जा यानी 'थर्ड क्लास' है भी नहीं तथा काफी दूरी तक सफर करने वाले यात्रियों को द्वितीय श्रेणी में भी काफी सुविधा मुहैया की गई है। फिर भी जब कभी हममें से कइयों को रेल-यात्रा में कुछ कष्ट होता है तो प्रायः कह देते हैं— 'इससे बढ़िया तो ब्रिटिश जमाने की रेलवे थी।'

क्या थी वह रेलवे, इसे गांधी जी के अपने अनुभवों के आधार पर देखें—

रांची, सितम्बर 25, 1917

प्रिय महोदय,

दक्षिण अफ्रिका से भारत में आये हुए मुझे ढाई वर्ष से कुछ अधिक समय हो गया। इस समय का एक चतुर्थांश मैंने स्वेच्छापूर्वक भारतीय रेलों के तीसरे दर्जे में यात्रा करने में बिताया है। मैंने उत्तर में लाहौर तक, दक्षिण में ट्रेंकेबार तक और कराची से कलकत्ता तक यात्रा की है। मेरे तीसरे दर्जे में यात्रा करने के अनेक कारणों में से एक कारण उस हालत की जानकारी प्राप्त करना था जिसमें इस दर्जे के यात्री यात्रा करते हैं और इसीलिए मैंने जहां तक हो सका है, उसका बहुत ही सूक्ष्मता से अवलोकन किया है। इस अवधि में मैंने अधिकांश रेलों की व्यवस्था बड़ी बारीकी से देखी है। जो-जो त्रुटियां मेरे देखने में आयीं उनके संबंध में मैंने भिन्न-भिन्न रेलों के प्रबंधकर्त्ताओं से समय-समय पर पत्र-व्यवहार किया है। लेकिन मैं समझता हूं, अब समाचारपत्रों तथा सर्वसाधारण से यह कहने का समय आ गया है कि वे सब मिलकर इस कष्ट के विरुद्ध धर्म-युद्ध में प्रवृत्त हों; यह कष्ट यद्यपि बिना अधिक कठिनाई के ही दूर हो सकता है तथापि इतना समय बीत जाने पर भी दूर नहीं किया गया है।

इस महीने की 12 तारीख को मैंने बम्बई से मद्रास की डाक गाड़ी का टिकट लिया और 13 रुपये 9 आने दिए। डिब्बे पर लिखा हुआ था कि यह डिब्बा 22 यात्रियों के लिए है। उसमें इतने यात्रियों के लिए

केवल बैठने की गुंजाइश हो सकती थी। उस डिब्बे में सोने की बेंचें नहीं थीं कि यात्री जरा भी आराम से लेट सकें। मद्रास पहुंचने से पहले इस गाड़ी में दो रातें बितानी थीं। पूना पहुंचने से पहले हमारे डिब्बे में 22 से अधिक यात्री नहीं सवार हुए; और इसका कारण यह था कि गाड़ी में जो लोग अपेक्षाकृत अधिक ढीठ थे वे दूसरे यात्रियों को उसमें घुसने से बलपूर्वक रोकते थे। केवल दो-तीन आग्रही यात्रियों को छोड़कर बाकी सबको बराबर बैठे-बैठे ही सोना पड़ा। रायचूर पहुंचने के उपरांत भीड़ को रोकना असम्भव हो गया। यात्रियों के रेले-पर-रेले आ रहे थे और उन्हें बाहर ही बाहर रोक रखना लड़ने-भिड़ने वालों की भी शक्ति के बाहर था। यदि गार्ड या रेलवे के दूसरे कर्मचारी आते थे तो वे और अधिक यात्रियों को गाड़ी में ठूंसकर चले जाते थे।

एक उद्धत मेमन व्यापारी ने यात्रियों को अचार की तरह ऐसे ठूंस-ठूंसकर भरने का विरोध किया। उसने कहा कि रेल में यह उसकी पांचवीं रात है, किन्तु इसका कुछ भी परिणाम न हुआ। गार्ड ने उसे अपमानित किया और कहा कि आखिरी स्टेशन पर रेलवे के प्रबंधकर्त्ताओं से उसकी शिकायत की जाएगी। उस रात उस गाड़ी में अकसर 35 यात्री रहे। कुछ लोग फर्श पर धूल में ही पड़े रहे और कुछ को खड़ा रहना पड़ा। एक बार कुछ वृद्ध यात्रियों के हस्तक्षेप से दो पक्षो में मारपीट होते-होते रह गई। ये वृद्ध यात्री नहीं चाहते थे कि मिजाज की गरमा-गरमी दिखाकर कष्ट में और वृद्धि की जाए।

रास्ते में यात्रियों को चाय की जगह रंगदार पानी मिला जिसमें मैली चीनी और सफेद रंग का द्रव, जिसे लोग भ्रम से दूध कहते थे, मिला हुआ था। इससे उस पानी का रंग मटमैला हो जाता था। मैं केवल उसकी रंगत के बारे में कह सकता हूं, किन्तु स्वाद के बारे में यात्री साक्षी हैं।

सारे सफर में डिब्बा एक बार भी झाड़ा या पोंछा नहीं गया। परिणाम-स्वरूप जब कोई फर्श पर चलता था या यों कहिए कि फर्श पर बैठे हुए यात्रियों के बीच से निकलता था तब उसे धूल में होकर निकलना पड़ता था।

डिब्बे का पाखाना सारे सफर में एक बार भी साफ नहीं किया गया

और उसकी टंकी में पानी नहीं था ।

यात्रियों के लिए (स्टेशनों पर) खाने-पीने की जो चीज़ें बिक रही थीं वे गन्दी दिखाई देती थीं तथा उनको बेचने वालों के हाथ तो और भी अधिक गन्दे थे । जिन बरतनों में वे चीज़ें रखी होती थीं वे भी गन्दे होते थे और जिन तराजुओं से वे तोली जाती थीं उनके पलड़े भी गन्दे ही होते थे । खाने-पीने की उन चीज़ों का स्वाद पहले ही लाखों मक्खियां चख चुकी थीं । जिन लोगों ने खाने की ये बढ़िया चीज़ें खरीदी थीं उनसे मैंने उनके संबंध में उनकी सम्मति पूछी । बहुत से लोगों ने उनकी किस्म के संबंध में जो कहना चाहिए था कहा; लेकिन सभी ने यह कहकर संतोष कर लिया कि इस संबंध में वे निरुपाय हैं और जो-कुछ मिल जाता है वही उन्हें लेना पड़ता है ।

स्टेशन पर पहुंचकर मैंने देखा कि गाड़ीवाला जितना किराया मांगता है उतना किराया लिये बिना मुझे नहीं ले जाएगा । मैंने नम्रता से इसका विरोध किया और उससे कहा कि मैं उसे निश्चित किराया दूंगा । मुझे सत्याग्रह करना पड़ा तब कहीं वह मुझे ले गया । मैंने उससे यही कहा—'मुझे या तो तुम गाड़ी से खींचकर उतार दो या पुलिस के सिपाही को बुला लो ।'

लौटते समय भी यात्रा में ऐसी ही दशा रही । डिब्बा पहले ही भर चुका था और यदि मेरे एक मित्र बीच में न पड़ते तो मैं बैठने की जगह भी न पा सकता । अवश्य ही मैं यात्रियों की निश्चित संख्या के अतिरिक्त था । वह डिब्बा 9 आदमियों के लिए बनाया गया था, परन्तु उसमें हर समय 12 आदमी तो रहते ही थे । एक स्थान पर रेलवे का एक बड़ा कर्मचारी एक विरोधकर्त्ता पर बिगड़ गया । उसने उसे पीटने की धमकी दी और कुछ यात्रियों को मुश्किल से डिब्बे में ठूंसने के बाद दरवाजा बन्द करके ताला लगा दिया । इस डिब्बे में एक पाखाना था, लेकिन हम उसे पाखाना नहीं कह सकते । वह यूरोपीय पाखाने के ढंग का बना था, परन्तु उसका व्यवहार उस रूप में नहीं किया जा सकता था । उसमें एक नल था, परन्तु उसमें पानी बिलकुल नहीं था और मेरे इस कथन का खंडन नहीं किया जा सकता कि उसकी गन्दगी से बीमारी फैल सकती थी ।

डिब्बा भी बिलकुल ख़राब दिखता था । लकड़ी की चीज़ों पर गर्द की बहुत मोटी तह जमी थी और मेरा ख़याल है कि उनको कभी साबुन या पानी से नहीं धोया गया था ।

इस डिब्बे में कई तरह के यात्री थे । उनमें तीन हृष्ट-पुष्ट पंजाबी मुसलमान, दो सुसंस्कृत तमिल और दो मुसलमान व्यापारी थे जो पीछे से आकर हम लोगों में सम्मिलित हो गए थे । व्यापारियों ने कहा कि जगह पाने के लिए उन्हें रिश्वत देनी पड़ी है । एक पंजाबी को यात्रा करते तीन रातें बीत गई थीं और वह बहुत थका-मांदा था । किन्तु वह लेट नहीं सकता था । उसने बताया कि वह दिन-भर सेंट्रल स्टेशन पर बैठा-बैठा यात्रियों को टिकट लेने के लिए रिश्वतें देते देखता रहा । दूसरे ने कहा कि उसे टिकट लेने और बैठने की जगह पाने के लिए पांच रुपये देने पड़े । वे तीनों आदमी लुधियाने जाने वाले थे और उन्हें अभी कई रात यात्रा करनी थी ।

जो कुछ मैंने कहा है वह कोई अपवाद नहीं बल्कि आम बात है । मैं रायचूर, ढोंढ, सोनपुर, चक्रधरपुर, पुरुलिया, आसनसोल तथा दूसरे जंक्शन स्टेशनों पर उतरा हूं और उन स्टेशनों के मुसाफिरखानों में गया हूं । उन्हें देखकर लज्जा आती है । उनमें कोई व्यवस्था और सफाई नहीं बल्कि बड़ी अव्यवस्था है और भयंकर शोरगुल होता है । यात्रियों के बैठने के लिए बेंचें या तो हैं ही नहीं और हैं भी तो काफी नहीं हैं । वे गन्दे फर्श पर बैठते और गन्दा खाना खाते हैं । वे चाहे जहां जूठन फेंकते और थूकते हैं और चाहे जैसे बैठते हैं और सब जगह तम्बाकू पीते हैं । उन मुसाफिरखानों के साथ बने पाखानों का तो वर्णन ही नहीं किया जा सकता । शिष्ट भाषा के नियमों को बिना तोड़े उनका ठीक-ठीक वर्णन करने की शक्ति मुझमें नहीं है । कीटाणु-नाशक पाउडर, राख या कीटाणु-नाशक तरल पदार्थों को तो कोई जानता भी नहीं है । उनके आसपास मक्खियों का जो झुण्ड भिनभिनाता है वह आपको सावधान करता है कि यहां पांव मत रखना । लेकिन तीसरे दर्जे का यात्री गूंगा और लाचार होता है—चाहे उन स्थानों में जाना मौत को बुलाना ही क्यों न हो, परन्तु फिर भी वह शिकायत नहीं करना चाहता । मैं ऐसे यात्रियों को जानता हूं जो रेलों में अपने कष्ट कम करने के लिए ही उपवास करते हैं । सोनपुर

में यात्रियों तथा अधिकारियों को सावधान करने के लिए मक्खियां नहीं थीं तो बरें थीं। परन्तु उनसे भी कोई फल नहीं हुआ। शाही राजधानी में तीसरे दर्जे का एक टिकटघर बिलकुल काल-कोठरी है और केवल नष्ट करने के ही योग्य है।

ऐसी दशा में यदि प्लेग भारत में एक राष्ट्रीय रोग हो गया है तो यह आश्चर्य की बात नहीं है। जहां यह हालत हो कि यात्री जहां पहुंचते हों, वहां कुछ गंदगी फैलाते हों और जाते हों तो अपने साथ उससे भी अधिक गन्दगी ले जाते हों वहां कोई अन्य परिणाम हो ही नहीं सकता।

केवल भारतीय रेलों में ही ऐसा है कि यात्री बिलकुल निर्भय होकर सभी डिब्बों में तम्बाकू या सिगरेट पीते हैं और स्त्रियों की उपस्थिति का एवं उन लोगों के विरोध का ध्यान नहीं करते जो तम्बाकू नहीं पीते। यद्यपि ऐसा विनियम है कि जो डिब्बा केवल तम्बाकू पीनेवालों के लिए ही नियत न हो उसमें बिना अपने साथी यात्रियों की आज्ञा के तम्बाकू पीना वर्जित है; किन्तु लोग उसकी परवाह नहीं करते।

इस जबरदस्त बुराई को दूर करने में इस भीषण युद्ध को भी आड़े नहीं आने दिया जा सकता। युद्ध के कारण इस गन्दगी और भीड़-भाड़ को सहन करना उचित नहीं हो सकता। यह तो समझ में आ सकता है कि ऐसे कठिन समय में यात्रियों का आना-जाना ही बन्द कर दिया जाए; परन्तु यह समझ में नहीं आ सकता कि उस गन्दगी और उन स्थितियों को कायम रखा जाए या उनमें वृद्धि की जाए जिनसे स्वास्थ्य और नीति को हानि पहुंचती है। अब जरा पहले दर्जे के यात्रियों की दशा की तुलना तीसरे दर्जे के यात्रियों की दशा से कीजिए। मद्रास का पहले दर्जे का किराया तीसरे दर्जे के किराये से पंचगुने से कुछ अधिक होता है। किन्तु पहले दर्जे के यात्रियों को जितनी सुविधाएं मिलती हैं, तीसरे दर्जे के यात्रियों को क्या उसका पांचवां हिस्सा, बल्कि दसवां हिस्सा भी मिलता है? यह मांग करना निस्संदेह न्याय है कि खर्च और सुविधाओं में कुछं अनुपात रखा जाना चाहिए।

यह बात सभी लोग जानते हैं कि पहले और दूसरे दर्जे की यात्रा की दिन-पर-दिन बढ़ने वाली सुख-सुविधाओं का खर्च तीसरे दर्जे के यात्री ही देते हैं। तीसरे दर्जे के यात्रियों को कम-से-कम बिलकुल जरूरी सुविधाएं

प्राप्त करने का अधिकार तो है ही ।

तीसरे दर्ज के यात्रियों की उपेक्षा करने का अर्थ लाखों आदमियों को व्यवस्था, सफाई और सभ्य, संयुक्त जीवन की उत्तम शिक्षा देने और लोगों में सीधी-सादी और परिष्कृत रुचि उत्पन्न करने का अवसर खोना भी है । इस दिशा में शिक्षा प्राप्त करने के बजाय तीसरे दर्जे के यात्रियों को यात्रा में जो अनुभव होता है उससे सुघड़ता और स्वच्छता की भावना और भी कुंठित हो जाती है ।

उक्त दोष को दूर करने के लिए जो-जो उपाय बतलाये जा सकते हैं उनमें मैं एक यह उपाय नम्रतापूर्वक जोड़ देना चाहता हूं— बड़े लाट, जंगी लाट, राजे-महाराजे, इम्पीरियल कौंसिल के मेम्बर और ऊंचे दर्जे में यात्रा करने वाले उच्च वर्गों के अन्य लोग बिना पहले से सूचना दिए बीच-बीच में तीसरे दर्जे की यात्रा का अनुभव प्राप्त किया करें । इससे तीसरे दर्जे के यात्रियों की दशा में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो जाएगा और ऐसे लाखों यात्री जो शिकायतें नहीं करते और मामूली आराम से एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने की आशा करते हैं, अपने दिए हुए किराये के बदले कुछ आराम पाने लगेंगे ।

आपका

मो० क० गांधी

इसे उद्धृत करते हुए यह भी कहना चाहूंगा कि जब कभी आज भी सवारी गाड़ियों (पैसेंजर ट्रेनों) में मैं यही हाल देखता हूं तो गांधी जी के इस पत्र की याद आने लगती है ।

निश्चय ही रेल-यात्रियों तथा रेल-प्रशासन दोनों के लिए गांधी जी का यह पत्र मार्गदर्शक का काम करेगा ।

मैंने भी देखा था उस दिव्य पुरुष को

अपने जीवन के सौभाग्यशाली क्षणों में उस क्षण को मानता हूं जब मैंने अपनी शिशु-सुलभ मुद्रा के साथ पूज्य बापू का दर्शन किया था । वर्षों बीत जाने पर भी मेरी आंखों में वह तसवीर किसी सपने के समान बसी हुई है और रह-रहकर यही सोचता हूं कि जीवन की कितनी बड़ी सार्थकता कही जाएगी जब मैंने उस महान पुरुष को अपनी आंखों देखा जिसके बारे में आइन्स्टीन के शब्दों में—आने वाली पीढ़ी मुश्किल से यह विश्वास कर सकेगी कि हमारे बीच भी कोई हाड़-मांस का ऐसा पुतला पैदा हुआ था ।

मेरे जीवन की यह सबसे पवित्र घड़ी थी और इसके साथ यह भी कह दूं कि वह घड़ी मेरे जीवन की सबसे बड़ी यादगार बन गयी । आज के 10-20-25 वर्षों बाद जब ऐसे लोग ढूंढे नहीं मिलेंगे जिन्होंने अपनी आंखों गांधी जी को देखा था तो निश्चय ही हमारी आंखों से ही आने वाली पीढ़ी बापू को देखेगी, उन्हें पहचानने का प्रयास करेगी और हमारी पीढ़ी या हमसे पहले की पीढ़ी पर ईर्ष्या भी करेगी कि हम गांधी-युग में पैदा हुए थे ।

बात को बहुत दूर तक नहीं ले जाकर सीधे अपने मूल विषय पर आता हूं ।

1947 का ऐतिहासिक साल, सदियों से परतंत्र देश उसी साल आजाद हुआ था—हर जगह एक नया उल्लाास और अपूर्व जागरण । अपने गांव से पटना आया था, भयंकर खबरें आ रही थीं, नोआखाली में आग लगी हुई थी और उसकी प्रक्रिया में बिहार में भी आग लग गई ।

और बापू दौड़े हुए, भागे हुए नोआखाली से पटना आये । उस

समय दस-ग्यारह साल का था। परंतु राजनीतिक चेतना पारिवारिक विरासत में मिली थी और इसीलिए गांधी जी की तसवीरें, किताबें, उनके बारे में ढेरों सारी जानकारियां आप से आप हो गई थीं।

मुझे कल के समान ही वह घटना याद है जब पटना विश्वविद्यालय-पुस्तकालय के सामने के मैदान में जहां आज नया भवन बना है, गांधी जी की प्रार्थना-सभा हुई थी। बूंदाबांदी होने की संभावना थी इसीलिए बापू को पुस्तकालय भवन के ऊपर वाले बरामदे में बैठाया गया था और वहीं से उन्होंने धीमी परंतु सशक्त आवाज में जो कुछ कहा था, वे बहुत सारी बातें मुझे अब तक याद हैं। विनोदपूर्ण स्वर में पहले उन्होंने कहा कि मुझ बूढ़े को ऊपर इसलिए बैठाया गया है कि अगर बारिश हुई तो आप भाग सकते हैं, लेकिन मैं कैसे भागता। मुझे क्षमा करना कि मैं आज आपके बीच नहीं बैठ सका।

मेरी आंखों में गांधी जी की तसवीर, उस समय की भीड़ की तसवीर, भीड़ में अपने चचा श्रीलक्ष्मणप्रसाद सिंह, जिनके साथ मैं प्रार्थना-सभा में गया था, उनकी तसवीर और कानों में रामधुन, गीता के श्लोक, कुरान की आयतें—सब की सब अंकित हैं।

प्रार्थना-सभा के बाद बापू जाने लगे तो पंक्तिबद्ध होकर लोग रास्ते के दोनों ओर खड़े हो गये, उनका पांव-छू-छूकर प्रणाम करने लगे। उन्हीं सौभाग्यशाली लोगों में एक मैं भी था, जिसने उनकी चरण-रज अपने माथे से लगायी और अपने जीवन को धन्य किया।

इसके साथ ही कुछ स्मृतियां ऐसी भी हैं जिन्हें मैं बापू के साथ सम्पृक्त कर बार-बार आंखों के सामने लाता हूं, जैसे बचपन में मेरे घर में बापू का हस्ताक्षर किया हुआ एक पैड था। पैड से हमारा अर्थ एक ऐसा माउण्टेड कागज जिस पर लोग तसवीरें चिपकाकर फ्रेम करवाते हैं। मेरे पिता जी उसे बहुत संभालकर रखते और बार-बार लोगों को दिखलाकर कहते थे कि गांधी जी जब 1934 या 1936 में औरंगाबाद आए थे तो पिताजी ने 5 रु० देकर उनसे यह हस्ताक्षर लिये थे। यह सर्वविदित है कि बापू जब किसी को अपने हस्ताक्षर देते थे तो बदले में हरिजन फण्ड के लिए 5 रु० उसका शुल्क लेते थे। मेरे घर में वह हस्ताक्षर एक अमूल्य निधि माने जाते थे। बाद के दिनों में घर की बेतरतीबी

और कागजों की उलट-पुलट में वह कहीं चला गया, इसे मैं दिल मसोस-कर याद करता हूं ।

इसी भांति गांधी जी की पौत्री श्रीमती सुमित्रा कुलकर्णी जी, जिन्हें मैं अपनी बड़ी बहन मानता हूं, उन्होंने एक बार मुझे बापू के हाथ की लिखी कुछ चिट्ठियां तथा बा के हाथ के सोने के कड़े दिए और कहा कि तुम इन चीज़ों को अपने पास संभालकर रखो । मेरी आंखों में आंसू आ गए क्योंकि इतनी अमूल्य धरोहर दीदी ने मुझे दी थी जिसके योग्य मैं था या हूं, यह नहीं कह सकता । दूसरे दिन मैंने उन्हें सारी चीज़ें वापस कीं और कहा कि यह चीज़ें आपके ही पास रहनी चाहिए क्योंकि बापू की याद आप में निहित है ।

मेरे जीवन की दो प्रतिबद्धताएं रही हैं–राष्ट्रपिता और राष्ट्रभाषा। जीवन का अंतराल ज्यों-ज्यों आगे बढ़ रहा है, इन दोनों के प्रति मैं अधिक आसक्त और दृढ़ होता जा रहा हूं । लगता है जैसे इन दोनों को यदि देश ने बिसरा दिया तो यह राष्ट्र अपनी अस्मिता खो देगा । इसकी बुनियाद में निश्चय ही मेरे बचपन का वह क्षण है जब मैंने गांधी जी को अपनी आंखों देखा था तथा उनके पांव छुए थे ।

गांधी को पहचानने की ललक

2 अक्तूबर, 1993। दिल्ली-बम्बई राजधानी एक्सप्रेस 130 किलोमीटर की रफ्तार से भागी जा रही है। मैं उसके प्रथम श्रेणी कूपे में बैठा कभी सिर-दर्द को कम करने के लिए माथा दबाता हूं, कभी नाक सुड़कता हूं, तो कभी एक-दो घूंट पानी पीकर गले की खराश को कम करने की कोशिश करता हूं। कभी हल्के ज्वर को तौलिए से पोंछकर भगाने की चेष्टा करता हूं। लेकिन रुकता नहीं, अबाध गति से लिखता जा रहा हूं।

आज सवेरे-सवेरे मुझे इहलाम हुआ है कि गांधी वापस आ गए हैं या पुनः जीवित हो गए हैं। संसद भवन के सामने दार्शनिक मुद्रा में ध्यानावस्थित गांधी की विशाल प्रतिमा का अनावरण आज राष्ट्रपति डॉ० शंकरदयाल शर्मा द्वारा हुआ है, जिसे देखकर मुझे अयाचित ही आह्लाद का रोमांच हो रहा है। बार-बार मुझे ऐसा लग रहा है कि संसद की गरिमा आज गांधी की प्रतिमा के कारण बढ़ गई है। दिल्ली की दर्शनीयता में वृद्धि हो गई है तथा विदा होता हुआ गांधीवाद लौट आया है।

गांधी की आंखें बंद हैं, निश्चय ही वे प्रार्थना में लीन, ध्यानावस्थित हैं। न देख रहे हैं, न सुन रहे हैं, केवल गुन रहे हैं। संसद के मुख्य द्वार के सामने ऐसी जगह वे स्थित हैं, जहां अंदर जाने वाले संसद सदस्यों की नजर उन पर न पड़ेगी, पड़ेगी बाहर निकलते समय। यह संतोष की बात है कि आमना-सामना प्रवेश के समय न होकर जाते समय ही हो जिससे प्रतिबद्धताएं कमें। और इससे भी बड़े संतोष की बात संसदों के लिए यह है कि गांधी जी आंखें मूंदे हुए ध्यानावस्थित हैं, जिससे किसी की नजर ही न मिले। गांधी से जितना बचा जाए उतना ही ठीक। कारण, आमना-सामना हुआ, आंखें मिलीं, तो वही आचरण, वही विचार कहीं दिल-दिमाग पर सवार न हो जाए।

मूर्ति की भव्यता और विशालता व्यक्तित्व का गौरवबोध है। निश्चय ही भारत में या फिर दुनिया में महात्मा गांधी की इतनी विशाल प्रतिमा कोई और नहीं होगी ।

मैं जब कभी विदेशों में कार्ल मार्क्स, लिंकन, लेनिन, गेटे, सुकरात, वाशिंगटन आदि की विशाल मूर्तियां देखता था तो बार-बार मेरे मन में बात आती थी कि काश, अपने देश में भी कहीं राष्ट्रपिता का ऐसा ही प्रतिमान होता ।

अयाचित ही आज वह सपना पूरा हुआ। दिनभर में कई बार गांधी की उस प्रतिमा के सामने किसी न किसी रूप में गया– कभी किसी को लेकर दिखलाने, कभी चित्र खींचने और कभी पांवों पर फूल अर्पित करने।

राष्ट्रपिता की प्रतिमा का अनावरण कर राष्ट्रपति डॉ० शंकरदयाल शर्मा केन्द्रीय कक्ष में आए, वहां उन्होंने हृदय से खुलकर भाषण दिया, जिनके अनेक वाक्य अभी तक मेरे कानों में गूंज रहे हैं ।

उसी समय मैंने अपने मन में संकल्प लिया कि वर्षों से पड़े काम को आज मैं प्रारंभ करूंगा तथा तब तक चैन नहीं लूंगा जब तक उसे पूरा न कर लूं। उसी क्रम में दिल्ली से भागकर इस कूपे में सवार मैं बम्बई की राह में हूं। बम्बई में मुझे कोई काम नहीं है लेकिन 50-60 घंटों का यह अकेलापन मेरे लिए विचित्र वरदान है ।

किस्मत की बात कि कूपे में मैं अकेला हूं, वरना सारा सोचा गुड़-गोबर हो जाता। रात आधी से अधिक हो गई और मैं कभी पढ़ते-पढ़ते लिखने में लग जाता हूं और कभी लिखते-लिखते पढ़ने में। यह आंखमिचौनी रात को ढकेलती जा रही है। दो से तीन बज गए, संभव है तीन, चार और पांच हो जाए, फिर सोने का सवाल कहां !

विगत् 15-20 वर्षों से गांधी-अध्याय का एक दुर्लभ परिच्छेद मैं सीने से पेसमेकर की तरह लगाकर घूम रहा हूं। वह है गांधी जी की टीम का चम्पारण-सत्याग्रह के समय लिया गया साक्ष्य-दस्तावेज, जो डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, ब्रजकिशोर प्रसाद, अनुग्रहनारायण सिंह, धरणीधर प्रसाद, प्रो० कृपलानी, रामनवमी प्रसाद, रामदयालु साह, विन्देश्वरी प्रसाद वर्मा जैसे लोगों ने गांव-गांव घूमकर निलहों से प्रताड़ित लोगों से जुटाए थे अथवा शोषित किसानों ने आकर अपना बयान दर्ज करवाया था। निश्चय

ही अधिकांश किसानों ने वहां की प्रचलित बोली भोजपुरी में बयान दिए होंगे जिसे इन महानुभावों ने अंग्रेजी में अनुवाद किया होगा, फिर वह टंकित होकर बापू के सामने लाया गया होगा, गांधी जी ने उन सभी कागजातों को पढ़ा, पेंसिल से जहां-तहां निशान लगाए, वह पुनः टंकित होकर कमीशन के सामने पेश किया गया। 1917 का टंकित वह दुर्लभ दस्तावेज लगभग 1600 फुलस्केप का मैंने कई वर्षों से अपने सीने से चिपकाकर रखा है। 80 साल पूर्व टंकित कागज पीला पड़ने लगा है, लेकिन मैंने एक पृष्ठ भी बर्बाद नहीं होने दिया। उसी दस्तावेज को यथावत पूर्व-पीठिका तथा चम्पारण-आंदोलन के विश्लेषण के साथ मैं दुनिया के सामने रखना चाहता था, जिसकी शुरुआत आज की रात है।

मेरी पत्नी को मेरे स्वास्थ्य का ऐसा खयाल रहता है कि इसी चिंता में वह अपना स्वास्थ्य गंवा बैठी हैं। जब उन्हें ये सारी बातें मालूम होंगी तो वह यही कहेंगी—ऐसा अन्याय स्वास्थ्य के प्रति किया जाता है; जबकि मैं यह मानकर चल रहा हूं कि आज की रात से बढ़कर सार्थक रात जीवन में कम आती होगी या आयी होगी।

चम्पारण सत्याग्रह जहां एक ओर गांधी के जीवन का बोझिल सत्य है, वहीं दूसरी ओर राष्ट्रीय जागरण का लक्ष्यबिन्दु जिसने तीस वर्षों बाद आजादी का रूप ग्रहण किया। दक्षिण अफ्रिका से विशाल अनुभव तथा परिपक्वता लेकर 22 वर्षों बाद जब गांधी जी 1915 में भारत लौटे तो उन्होंने यहां की धरती पर पहला सत्याग्रह-प्रयोग चम्पारण में किया, जिसने चम्पारण तथा गांधी को पूरे विश्व में चर्चित बना दिया। उनका मानना था कि ध्येय, साधना, अहिंसा और सत्य की ताकत क्या है और अशिक्षित तथा निरक्षर जनता के सहारे क्या किया जा सकता है– इसका विश्लेषणं चम्पारण-सत्याग्रह का मूलमंत्र है। निश्चय ही इसके लिए जिस दृढ़ता और नेतृत्व की जरूरत होती है, उसकी पूर्ति गांधी जी ने दक्षिण अफ्रिका में गोरों के अन्याय से निहत्थे तथा लाचार भारतीयों को मुक्ति दिलाकर की। जनवरी 1915 में जब वे भारत आए तो मोहनदास कर्मचन्द गांधी थे, लेकिन 1917 की 4 अक्तूबर को निलहों के जुल्म से लाखों किसानों को मुक्ति दिलाकर जब वे आज़ादी की लड़ाई का नेतृत्व करने आगे बढ़े तो वे महात्मा हो चुके थे।

देश की जनता का अजस्र प्यार और श्रद्धा जिस प्रकार गांधी जी को मिला, विश्व में कम नेताओं को मिलता है ।

मेरा यहां मुख्य विषय चम्पारण ही है, लेकिन मेरे मन में सहज जिज्ञासा थी कि इसकी पूर्व-पाठिका के रूप में दक्षिण अफ्रिका के उस परिवेश को भी लिया जाये, जहां से गांधी जी चले थे। इसके लिए अनायास ही एक संयोग भी जुटा, जिसके अनुसार आज 2 अक्तूबर, 1993 को मुझे जोहन्सबर्ग में रहना था। एक सप्ताह की हमारी वह यादगार यात्रा महाराष्ट्र में आयी भयानक प्राकृतिक विपदा ने काल-कवलित कर दी, आज की पूरी रात जागकर मैं उसका भी प्रायश्चित कर रहा हूं।

यह सारा का सारा प्रयास गांधी को पुनर्जीवित करने का नहीं, वरन् उन्हें पकड़ने या समझने की मेरी ललक है। जैसा मैंने अनुभव किया और जिसे बार-बार दुहराता रहा हूं, गांधी जी के चम्पारण का स्रोत कहीं न कहीं दक्षिण अफ्रिका से जुड़ता है, जिसका वर्णन पिछले दिनों दक्षिण अफ्रिका से आकर डॉ० कर्ण सिंह ने इस प्रकार किया था—

"आर्किमेडीज के जल से लबालब भरे स्नान-टब में बैठते ही पानी छलककर बाहर निकल पड़ा और अकस्मात उसके मन में एक विचार कौंधा जिसने गणित की दिशा ही बदल दी। दमिश्क की सड़क पर चलते-चलते सेंट पॉल ने अचानक ऐसे रहस्य की अनुभूति की जिसने ईसाई धर्म का भावी इतिहास ही बदल डाला। सेव के पेड़ के नीचे बैठे आइजक न्यूटन के सिर पर एक फल गिरा जिसे आधार मानकर न्यूटन ने एक ऐसे सिद्धांत का प्रतिपादन किया जिसने विज्ञान की प्रकृति को स्थायी रूप से बदल दिया। और इनर टेंपल, लंदन से विधि-शिक्षा में निष्णात 22 वर्षीय युवा बैरिस्टर मोहनदास करमचंद गांधी को दक्षिण अफ्रिका के पीटर्सबर्ग में रेल के प्रथम श्रेणी के डिब्बे से बाहर फेंक दिया गया जिसने केवल उसकी चेतना को ही नहीं बल्कि मानव के भावी इतिहास को ही परिवर्तित कर दिया।

मई 1893 के अंतिम सप्ताह में गांधी प्रथम बार डरबन आए थे और दक्षिण अफ्रिकी भारतीय समुदाय ने उस ऐतिहासिक आगमन की शताब्दी को व्यापक रूप से मनाने का आयोजन किया था। इसी आयोजन में शामिल होने के लिए मैं प्रथम बार इस सुंदर देश में आया हूं। चालीस

वर्ष तक कोई भी भारतीय दक्षिण अफ्रिका नहीं जा सकता था, क्योंकि हमारी नीति के अनुसार हमें वहां के जातीय शासन तथा उसकी कुत्सित तथा प्रजाति-पार्थक्य नीति का पूर्ण विरोध करना था, परन्तु नेल्सन मंडेला के नेतृत्व वाली अफ्रिकी नेश़नल कांग्रेस तथा इसके दिग्गज नेताओं के भारी स्वाधीनता आंदोलन के परिणामस्वरूप प्रेसिडेंट एस० डब्ल्यू० डी क्लार्क ने फरवरी, 1990 में पुराने शासन को विघटित करने के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण कदम उठाए । इन कदमों में अफ्रिकी नेशनल कांग्रेस के जादुई प्रभाव वाले निर्विवाद नेता डॉ० नेल्सन मंडेला की जेल से रिहाई, अफ्रिका नेशनल कांग्रेस पर लगे प्रतिबंध को हटाना, अनेक राजनैतिक बंदियों की कारागार से मुक्ति तथा कुत्सित जातिवादी कानूनों को निरस्त करना था ।''

2 अक्तूबर, 1994 को मैं निश्चित तौर से गांधी को पकड़ने का प्रयास कर रहा हूं कि कहीं वे हमसे छूट न जाएं । •

महात्मा गांधी

शंकर दयाल सिंह